# देव

# शास्त्र और

# गुरु

डॉ० सुदर्शन लाल जैन

u25

# देव, शास्त्र और गुरु

लेखक

**डॉ॰ सुदर्शन लाल जैन**

*एम॰ए॰, पी-एच.डी., आचार्य (प्राकृत, जैनदर्शन और साहित्य)*
*मन्त्री, अ.भा॰दि॰ जैन विद्वत्परिषद्*
*अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, कला संकाय,*
*काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी*

**अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्**

**प्रकाशक**

मन्त्री, अ॰भा॰दि॰ जैन विद्वत्परिषद्

**आशीर्वाद**

१. पं॰ जगन्मोहनलाल शास्त्री, कटनी
२. डॉ. पं॰ दरबारी लाल 'कोठिया' बीना
३. प्रो. खुशालचन्द्र गोरावाला, वाराणसी
४. डॉ. देवेन्द्र कुमार शास्त्री, नीमच

**प्राप्तिस्थान**

१. मन्त्री, अ॰भा॰दि॰ जैन विद्वत्परिषद्
डॉ. सुदर्शन लाल जैन
१, सेन्ट्रल स्कूल कॉलोनी
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी-२२१००५

२. प्रकाशन मंत्री, अ॰भा॰दि॰ जैन विद्वत्परिषद्
डॉ. नेमिचन्द्र जैन, प्राचार्य
श्री पार्श्वनाथ दि॰ जैन गुरुकुल, सी॰से॰ स्कूल,
खुरई, जिला सागर (म. प्र.)

**प्रथम संस्करण**

आषाढ़, वी. नि. सं. २५२० (जुलाई, १९९४)

**पुनर्मुद्रण**

भाद्रपद, वी. नि. सं. २५२० (सितम्बर, १९९४)

**मूल्य**

बीस रूपया

**मुद्रक**

तारा प्रिंटिंग वर्क्स, वाराणसी

## जीव-स्थिति-सूचक गुणस्थान-चक्र

(कर्मों की उदयादि अवस्थाओं से उत्पन्न जीव-परिणाम और जीव-स्थिति)

सच्चे देव — गुणस्थानातीत; यथाख्यात-चारित्र, कषाय-असद्भाव; सच्चे साधु = गुरु; उपशम श्रेणी; क्षपक श्रेणी; गृहस्थ = व्रती-अव्रती श्रावक; कषाय-सद्भाव

| गुणस्थान | कर्म-स्थिति |
|---|---|
| सिद्धावस्था | घातिया-अघातिया सभी कर्मों का पूर्णतः अभाव। |
| १४ अयोग केवली (अर्हन्त-अवस्था) | चारों घातिया कर्मों का क्षय, पाँच ह्स्वाक्षर उच्चारण काल मात्र स्थिति। |
| १३ सयोग केवली (अर्हन्त अवस्था) | चारों घातिया कर्मों का क्षय तथा शरीर नाम-कर्मोदय से योग का सद्भाव।तीर्थङ्कर की दिव्यध्वनि इसी अवस्था में खिरती है। यहीं से सच्चे शास्त्रों का उद्‌गम है। |
| १२ क्षीणमोह = क्षीणकषाय (वीतराग छद्मस्थ) | चारित्र मोहनीय कर्म का क्षय। यहाँ से अर्हन्त अवस्था अवश्यम्भावी है। |
| ११ उपशान्तमोह (वीतराग छद्मस्थ) | कषायोपशम। चारित्र मोहनीय का उपशम। यहाँ से पतन अवश्यम्भावी है। परिणामों के अनुसार सातवें से प्रथम गुणस्थान तक पतन संभव। |
| १० सूक्ष्मसाम्पराय संयत (ध्यानस्थ मुनि) | प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदयाभाव। |
| ९ अनिवृत्तिकरण (ध्यानस्थ मुनि) | ,, |
| ८ अपूर्वकरण संयत (ध्यानस्थ मुनि) | ,, |
| ७ अप्रमत्त संयत (मुनि की उन्नत-अवस्था | ,, |
| ६ प्रमत्तसंयत (मुनि-अवस्था प्रारम्भ) | ,, |
| ५ देशविरत = संयतासंयत (अणुव्रतीश्रावक से ऐलक तक) | अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदयाभाव। |
| ४ अविरतसम्यक्त्व (अव्रती श्रावक) | दर्शन-चारित्र मोहनीय के अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क का उपशम या क्षयोपशम या क्षय। |
| ३ मिश्र (सम्यग्मिथ्यात्व) | दर्शनमोहनीयकर्म क्षयोपशम। इसमें मृत्यु, अणुव्रत, महाव्रत, मारणान्तिक समुद्‌घात नहीं होते। |
| २ सासादन (सासादन-सम्यक्त्व) | मोहनीय कर्मोदय; सम्यक्त्व से पतन होते समय प्राप्ति; समय-सीमा एक समय से छः आवली तक। |
| १ मिथ्यात्व (मिथ्यादृष्टि) | मोहनीय कर्मोदय। चारों गतियों के सभी मिथ्यादृष्टि जीव; भावनत्रिक के देव आदि। |

## अ॰ भा॰ दि॰ जैन विद्वत्परिषद् के संरक्षक, पदाधिकारी और कार्यकारिणी के सदस्य

***संरक्षक सदस्य***

१. स्वस्ति श्री कर्मयोगी भट्टारकचारुकीर्ति जी, श्रवणवेलगुल

२. स्वस्तिश्री ज्ञानयोगी भट्टारकचारुकीर्ति जी, मूड़बिद्री

३. सिद्धान्ताचार्य पं॰ जगन्मोहनलाल जी शास्त्री, कटनी

४. पं॰ बंशीधर जी व्याकरणाचार्य, बीना

५. डॉ॰ दरबारीलालजी कोठिया न्यायाचार्य, बीना

६. संहितासूरी पं॰ नाथूलाल जी शास्त्री, इन्दौर

७. डॉ॰ पन्नालाल जी साहित्याचार्य, सागर

८. समाजरत्न पं॰ भंवरलाल जी न्यायतीर्थ, जयपुर

९. बालब्रह्मचारी पं॰ माणिकचन्द्र जी चवरे, कारंजा

१०. पं॰ हीरालाल जी जैन 'कौशल' न्यायतीर्थ, दिल्ली

११. डॉ॰ कस्तूरचन्द जी कासलीवाल, जयपुर

१२. पं॰ नरेन्द्र कुमार जी भिसीकर, सोलापुर

१३. प्रो॰ खुशालचन्द जी गोरावाला, वाराणसी

१४. पं॰ भुवनेन्द्र कुमार जी शास्त्री, बादरी

१५. पं॰ सत्यन्धर कुमार जी सेठी, उज्जैन

१६. डॉ॰ राजाराम जी जैन, आरा

१७. प्रो॰ उदयचन्द्र जी जैन, वाराणसी

***पदाधिकारी एवं कार्यकारिणी-सदस्य***

१. **अध्यक्ष**, डॉ. देवेन्द्र कुमार शास्त्री, नीमच

२. **उपाध्यक्ष**, डॉ. शीतलचन्द्र जैन, जयपुर

३. **मन्त्री**, डॉ. सुदर्शनलाल जैन, वाराणसी

४. **संयुक्तमंत्री**, डॉ. सत्यप्रकाश जैन, दिल्ली

५. **कोषाध्यक्ष**, श्री अमरचन्द्र जैन, सतना

६. **प्रकशनमंत्री**, डॉ. नेमिचन्द्र जैन, खुरई।

७. पं॰ धन्यकुमार भोरे, करंजा

८. पं॰ प्रकाश हितैषी शास्त्री, दिल्ली

९. डॉ॰ गोकुल प्रसाद जैन, दिल्ली

१०. डॉ॰ शिखरचन्द्र जैन, हटा

११. पं॰ अनूपचन्द्र न्यायतीर्थ जयपुर

१२. डॉ॰ रवीन्द्र कुमार जैन, मद्रास

१३. डॉ॰ लालचन्द्र जैन, वैशाली

१४. डॉ॰ विद्यावती जैन, आरा

१५. डॉ॰ राजेन्द्र कुमार बंसल, अमलाई

१६. डॉ॰ प्रेमचन्द्र रावका, जयपुर

१७. डॉ॰ उत्तमचन्द्र जैन, सिवनी

१८. डॉ॰ रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर

१९. डॉ॰ फूलचन्द्र जैन 'प्रेमी' वाराणसी

२०. डॉ॰ कमलेश कुमार जैन, वाराणसी

२१. डॉ॰ कपूरचन्द्र जैन, खतौली

***विशेष आमन्त्रित सदस्य***

१. प्रो॰ विद्याधर उमाठे, कारंजा

२. डॉ॰ सुरेशचन्द्र जैन, वाराणसी

३. श्रीमन्त सेठ धर्मेन्द्र कुमार जैन, खुरई


# (१) आशीर्वाद एवं सम्मति

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् के प्रस्ताव को दृष्टि में रखकर जैन धर्मानुसार सच्चे देव, शास्त्र और गुरु के सम्बन्ध में प्रस्तुत पुस्तक (शोध निबन्ध) डॉ. सुदर्शन लाल जैन ने लिखकर एक कमी को पूरा किया है। सच्चे देव, शास्त्र और गुरु की जानकारी तथा उनकी श्रद्धा सम्यग्दर्शन की प्रथम सीढ़ी मानी गई है। इनके सच्चे स्वरूप को जाने विना आगे की यात्रा संभव नहीं है। अतः इनके स्वरूप में किसी प्रकार की विसंगति न हो इसके लिए प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर इनका स्वरूप जानना अत्यन्त आवश्यक है।

वर्तमान काल में शास्त्रों की रचना तथा साधुओं की चर्या में विसंगतियाँ आने लगी हैं। इसी प्रकार अनेक दिगम्बर जैन देव-मन्दिरों में जिनेन्द्र देव के अलावा पद्मावती, क्षेत्रपाल आदि शासन देवी-देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित होने लगी हैं जो कि वीतराग देव की परिभाषा से बाहर हैं। इसीलिए देव, शास्त्र और गुरु के सत्यार्थ की जानकारी समाज के बच्चे बच्चे के लिए आवश्यक है। इसके अतिरिक्त जैनाचार्यों और उनकी प्रामाणिक रचनाओं की भी जानकारी आवश्यक है जिससे सच्चे जैन शास्त्र-परम्परा के इतिहास की जानकारी मिल सके और दिगम्बर जैनों के साहित्यिक योगदान को भी जाना जा सके।

इस कार्य को डॉ. सुदर्शन लाल जैन, जो वर्तमान में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष हैं, अ.भा.दि. जैन विद्वत्परिषद् के मन्त्री तथा श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन शोध संस्थान वाराणसी के कार्यकारी मंत्री भी हैं, ने जैन शास्त्रों का सम्यक् आलोड़न करके सच्चे देव, शास्त्र और गुरु की यथार्थ परिभाषा को तथा उनके नग्न स्वरूप को उजागर किया है। आशा है, इस पुस्तक को पढ़कर न केवल जैन समाज अपितु सत्यान्वेषी समस्त जैनेतर समाज को भी लाभ मिलेगा। इस कार्य-सम्पादन हेतु डॉ. जैन को मेरा आशीर्वाद है।

कटनी (म. प्र.)
दिनाङ्क २५/२/१९९४

**पं॰ जगन्मोहनलाल शास्त्री**
*संरक्षक, अ.भा.दि. जैन विद्वत्परिषद्*
*पूर्व प्राचार्य, शान्तिनिकेतन जैन संस्था, कटनी*

## (२) आशीर्वाद एवं सम्मति

प्रस्तुत कृति को पढ़ने से मुझे प्रतीत हुआ कि इसके सुयोग्य लेखक ने इसमें देव, शास्त्र और गुरु तीनों के सम्बन्ध में जैनदर्शन की मान्यतानुसार शोधपूर्ण कार्य उपस्थित किया है। इसमें चार परिच्छेद हैं और प्रत्येक परिच्छेद शास्त्रीय प्रमाणों से युक्त है। यह ऐसी कृति है कि इसके पूर्व मुझे ऐसी महत्त्वपूर्ण रचना पढ़ने और देखने में नहीं आई। पुस्तक का नाम प्रत्येक जैन के लिए जानने में कठिन न होगा। बालकों से लेकर वृद्धों तक और सामान्य जिज्ञासुओं से लेकर विद्वानों तक के लिए इसमें बहुमूल्य सम्पदा पढ़ने के लिए मिलेगी।

इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें लेखक ने किसी भी विषय पर विना शास्त्रीय प्रमाणों के लेखनी नहीं चलाई है। सधी हुई लेखनी के अतिरिक्त गहरा विचार भी सरल भाषा में प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक से मेरा विश्वास है कि जैन के सिवाय जैनेतर भी यह जान सकेंगे कि जैनधर्म में देव, शास्त्र और गुरु का कितनी गहराई और विशदता के साथ विचार किया गया है। इसमें जानकारी देने के लिए बहुत ही अच्छे ढंग से विपुल सामग्री दी गई है।

इस पुस्तक की दूसरी विशेषता यह है कि कोई विषय विवाद का नहीं है। शास्त्रीय प्रमाणों से भरपूर होने के कारण निश्चय ही इस कृति का मूल्य बहुत बढ़ गया है। लेखक ने विवादों से बचते हुए अपने मन्तव्यों को भी स्पष्ट किया है। सच्चाई की कसौटी को पकड़कर ही विवेचन किया है।

हम ऐसी कृति प्रस्तुत करने के लिए डॉ. सुदर्शन लाल जैन संस्कृत विभागाध्यक्ष, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी तथा अ॰भा॰दि॰ जैन विद्वत्परिषद् के मन्त्री को हार्दिक मंगल आशीर्वाद एवं बधाई देते हैं। अ॰ भा॰ दि॰ जैन विद्वत्परिषद् का यह प्रयत्न निश्चय ही श्लाघ्य है जिसने इस महत्त्वपूर्ण कृति को सुयोग्य विद्वान् से तैयार कराया और उसका प्रकाशन किया।

'श्रावकाचार' पर भी इसी प्रकार की एक रचना डॉ. जैन जी से तैयार कराई जाए, जिसकी बहुत बड़ी आवश्यकता है। लेखक की लेखनी बड़ी परिमार्जित और सधी हुई है तथा शोध को लिए हुए है। अतएव विद्वत्परिषद् से मैं अनुरोध करता हूँ कि उनसे श्रावकाचार पर भी इसी प्रकार की कृति तैयार कराए।

बीना (म. प्र.) — **डॉ. दरबारीलाल कोठिया**
दिनाङ्क : २८.६.१९९३ — *पूर्व रीडर, का॰हि॰वि॰वि॰, वाराणसी*
*संरक्षक, अ॰भा॰दि॰ जैन विद्वत्परिषद्*

## (३) आशीर्वाद एवं सम्मति

आहारादि संज्ञाओं (आहार, भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञाओं) के महाज्वर की पूर्ति हेतु मूढ़ताओं (लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता और गुरुमूढ़ता रूप मिथ्यात्व) का अपनाना महापाप है। अतएव अ. भा. दि. जैन विद्वत्परिषद् ने स्वयं को तथा समाज को त्रिमूढ़ता-पथिकत्व की अभद्रता से बचाने के लिए मूल आगमपरक देव, शास्त्र और गुरु के लक्षणों की सही जानकारी देने वाले विवेचनात्मक निबन्ध लिखने का प्रस्ताव किया था।

प्रसन्नता है कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभागाध्यक्ष डॉ. सुदर्शनलाल जी ने आधुनिक शोधप्रक्रिया को अपनाकर प्रकृत रचना की है। उनका प्रयास श्लाध्य है और विश्वास है कि तरुण विद्वत्वर्ग इस परम्परा को प्रगति देकर श्रमणसंस्कृति की सार्वभौमिकता के समान सार्वकालिकता को भी उजागर करेंगे।

वाराणसी — **प्रो. खुशालचन्द्र गोरावाला**
दिनाङ्क १२.६.९४ — *सदस्य, का. हि. वि. वि. समिति*
*प्रधानमंत्री, अ. भा. दि. जैनसंघ, मथुरा*

## (४) आशीर्वाद एवं सम्मति

आपकी पुस्तक 'देव, शास्त्र और गुरु' आदि से अन्त तक पढ़ गया हूँ। आपने श्रम करके एक उत्तम संकलन पुस्तक के रूप में प्रस्तुत किया है जो स्वागत-योग्य है।....... 'मूलाचार' न मिलने के कारण विलम्ब हुआ। पूरा प्रकरण देखकर-पढ़कर लिखा है।

२४३, शिक्षक कॉलोनी — **डॉ. देवेन्द्र कुमार शास्त्री**
नीमच (म. प्र.) — *अध्यक्ष, अ. भा. दि. जैन विद्वत्परिषद्*
दिनाङ्क १२.९.१९९३ — *पूर्व प्रोफेसर, शासकीय महाविद्यालय, नीमच*

# प्रकाशन मंत्री की लेखनी से

दिगम्बर जैन विद्वानों की अग्रणी संस्था अ॰ भा॰ दि॰ जैन विद्वत्परिषद् ने अब तक अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का सफल प्रकाशन कर साहित्य जगत को समृद्ध किया है। प्रकाशित ग्रन्थों का अवलोकन कर समाज के प्रबुद्ध वर्ग ने प्रसन्नता प्रकट की है। ग्रन्थों का सर्वत्र समादर हुआ और उनकी समस्त प्रतियाँ हाथों हाथ उठ गई। भारतीय विश्वविद्यालयों के पुस्तकालयों में निःशुल्क भेंट किये गये ग्रन्थों का अध्ययन करके जैनेतर विद्वानों ने प्रकाशित ग्रन्थों की एवं विद्वत्परिषद् की साहित्य-सेवा की भी प्रशंसा की है। उसी शृंखला में १५ नवम्बर १९९२ में सतना नगर में आमंत्रित विद्वत्परिषद् की कार्यकारिणी की बैठक में आचार्यों द्वारा मान्य "देव, शास्त्र एवं गुरु" के निर्विवाद स्वरूप का ज्ञान कराने की भावना से एक ग्रन्थ लिखवाने का प्रस्ताव किया गया। कई विद्वानों से इस कार्य को पूरा करने का आग्रह किया गया। अन्त में डॉ. सुदर्शनलालजी जैन से उक्त विषय पर प्रामाणिक ग्रन्थ लिखने का विशेष अनुरोध किया गया।

डॉ. जैन ने लगभग ६ माह के अनवरत परिश्रम द्वारा देव, शास्त्र और गुरु के स्वरूप पर प्रामाणिक ग्रन्थ लिखकर २७/२८ जून ९३ को खुरई जैन समाज द्वारा अमंत्रित दि॰ जैन विद्वत्परिषद् की साधारण सभा के अधिवेशन में विद्वानों की सम्मति हेतु प्रस्तुत किया। ग्रन्थ को जैन धर्म के मूर्धन्य विद्वान् डॉ. पं॰ दरबारीलाल जी कोठिया बीना, तथा अध्यक्ष डॉ. देवेन्द्र कुमार जी शास्त्री नीमच ने आद्योपान्त पढ़कर अपनी संस्तुति प्रदान की। लेखक ने विद्वानों के सुझावों को पं॰ जगन्मोहन लाल जी शास्त्री, कटनी से परामर्श कर यथायोग्य समायोजन किया। इस तरह इस ग्रन्थ को इस रूप में तैयार करने में करीब डेढ़ वर्ष का समय लग गया। सुझावों एवं संशोधनों के उपरान्त ग्रन्थ को इस रूप में प्रकाशित करते हुए प्रसन्नता हो रही है।

अ॰भा॰दि॰ जैन विद्वत्परिषद् के कोषाध्यक्ष श्री अमरचंद्र जी जैन एम. कॉम ने ग्रन्थ-प्रकाशन हेतु विभिन्न ट्रस्टों से अर्थ उपलब्ध कराया। अतः मै परिषद् की ओर से अमरचंद्र जी का तथा उन सभी ट्रस्टों का आभार मानता हूँ।

आशा है, निष्पक्ष दृष्टि से पूर्वाचार्यों द्वारा मान्य सबलप्रमाणों के आधार पर लिखित यह ग्रन्थ समग्र जैन समाज में समादरणीय होगा, ऐसी भावना है।

*प्राचार्य, एस. पी. जैन गुरुकुल, उ.मा.वि., खुरई* — **डॉ. नेमिचन्द्र जैन**
*प्रकाशन मंत्री, अ॰भा॰दि॰ जैन विद्वत्परिषद्* — दिनाङ्क ३०.५.१९९४

# प्राक्कथन

नवम्बर १९९२ में सतना (मध्यप्रदेश) में आयोजित अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद् की कार्यकारिणी की बैठक में निर्णय लिया गया कि परिषद् से सच्चे देव, शास्त्र और गुरु पर प्राचीन आगम ग्रन्थों के उद्धरणों को देते हुए एक प्रामाणिक पुस्तक तैयार कराई जाए जिससे सच्चे देव, शास्त्र और गुरु के सन्दर्भ में व्याप्त भ्रम को दूर किया जा सके। एतदर्थ विद्वानों से कई बार आग्रह किया गया। विवादरहित, शोधपूर्ण, प्रामाणिक तथा सर्वसाधारण सुलभ ग्रन्थ तैयार करना आसान कार्य नहीं था फिर भी गुरुजनों के अनुरोध को स्वीकार करते हुए मैंने इस कार्य को करना स्वीकार कर लिया और पूर्ण निष्ठा के साथ इस कार्य में जुट गया। एतदर्थ मैंने मुनियों और विद्वानों से संपर्क किया। समाज के लोगों से भी परामर्श किया। अन्त में पाण्डुलिपि लेकर पूज्य पं॰ जगन्मोहन लालजी शास्त्री कटनी वालों के पास गया। पंडित जी ने उसे आद्योपान्त देखा और वर्तमान रूप में प्रस्तुत करने का निर्देश दिया। इसके बाद ग्रन्थ को नया रूप प्रदान करके २६-२७ जून १९९३ को विद्वतपरिषद् की खुरई में आयोजित साधारण सभा में प्रस्तुत किया। सभी ने सर्वसम्मति से इसके प्रकाशन हेतु स्वीकृति प्रदान की। इसी अधिवेशन में डॉ. देवेन्द्र कुमार शास्त्री नीमच वालों को विद्वत् परिषद् का अध्यक्ष तथा मुझे मंत्री चुना गया। पुस्तक की दो प्रतियाँ तैयार की गई थीं जिनमें से एक प्रति लेकर मैं आदरणीय पं॰ दरबारी लाल कोठिया जी के साथ पुस्तक-वाचना हेतु बीना गया; तथा दूसरी प्रति आदरणीय अध्यक्ष डॉ. देवेन्द्र कुमार जी अपने साथ ले गए। अध्यक्ष जी ने उसका आद्योपान्त गहन अध्ययन किया और तेईस सुझाव दिए। उन सुझावों को दृष्टि में रखते हुए मैंने तदनुसार मूल प्रति में संशोधन किये। पश्चात् पुनः आदरणीय पं. जगन्मोहनलालजी के पास कटनी गया जहाँ पुनः वाचन करके ग्रन्थ को अंतिम रूप दिया गया। इस तरह एक लम्बा समय इस कार्य में लग गया।

प्रस्तुत पुस्तक को चार अध्यायों में विभक्त किया गया है। प्रथम तीन अध्यायों में क्रमशः देव, शास्त्र और गुरु सम्बन्धी विवेचन किया गया है। चतुर्थ अध्याय उपसंहारात्मक है। प्रत्येक अध्याय के अन्त में भी एक छोटा उपसंहार दिया गया है। अन्त में दो परिशिष्ट हैं। प्रथम परिशिष्ट द्वितीय अध्याय की चूलिकारूप है जिससे शास्त्रकारों और शास्त्रों की ऐतिहासिक जानकारी मिल सकेगी। आगमों के उत्सर्गमार्ग (राजमार्ग, प्रधानमार्ग) तथा अपवादमार्ग (विशेष परिस्थितियों वाला मार्ग) के विवेकज्ञान को दृष्टि में रखते हुए आभ्यन्तर और

बाह्य उभयरूपों की शुद्धता अपेक्षित है। वीतराग छद्मस्थ तथा अर्हत्-अवस्था की प्राप्ति होने के पूर्व यथाख्यात चारित्र संभव नहीं है। अतः बाह्य-क्रियाओं में सावधानी अपेक्षित है। बाह्य-क्रियायें ही सब कुछ हैं, यह पक्ष भी ठीक नहीं है। यही जिनवाणी का सार है। वीतरागता और अहिंसा उसकी कसौटी है।

पुस्तक का कवरपृष्ठ ऐसा बनाया गया है जिससे सच्चे देव, शास्त्र और गुरु को चित्ररूप में जाना जा सके। ग्रन्थारम्भ में गुणस्थान-चक्र दिया गया है जिसमें चारित्रिक विकास और पतन के साथ यह दर्शाया गया है कि एक मिथ्यात्वी जीव कैसे गुणस्थान-क्रम से भगवान् (देव) बन जाता है। 'प्रत्येक आत्मा परमात्मा है' यह जैनदर्शन का उद्घोष संसार के समस्त प्राणियों के लिए 'अमृत-औषधि' है।

अन्त में मैं इस ग्रन्थ के लेखन आदि में जिनका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग मिला है उनके प्रति हृदय से आभारी हूँ। सबसे अधिक मैं पूज्य गुरुवर्य पं॰ जगन्मोहन लाल जी शास्त्री का ऋणी हूँ जिनके निर्देशन में यह कार्य हो सका। इसके अतिरिक्त परिषद् के संरक्षक पं॰ डॉ॰ दरबारी लाल कोठिया, डॉ॰ पन्नालाल जी साहित्याचार्य, ब्र॰ माणिकचन्द्र जी चवरे, पं॰ हीरालाल जैन कौशल, डॉ॰ कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, प्रो. खुशाल चन्द्र गोरावाला, प्रो॰ राजाराम जैन, अध्यक्ष डॉ॰ देवेन्द्रकुमार शास्त्री, उपाध्यक्ष डॉ॰ शीतलचंद जैन, कोषाध्यक्ष श्री अमरचन्द्र जैन, प्रकाशन मन्त्री डॉ॰ नेमीचन्द्र जैन, संयुक्त मन्त्री डॉ॰ सत्यप्रकाश जैन, डॉ. कमलेश कुमार जैन, डॉ. फूलचन्द्र प्रेमी आदि विद्वत् परिषद् के सभी विद्वानों का आभारी हूँ। श्री हुकमचन्द जी जैन (नेता जी) सतना, श्री ऋषभदास जी जैन वाराणसी, डॉ॰ देवकुमार सिंघई जबलपुर, मास्टर कोमलचन्द्र जी जैन जबलपुर, सिंघई देवकुमार जी आरा आदि समाज के प्रतिष्ठित श्रावकों का भी आभारी हूँ जिन्होंने विविधरूपों में सहयोग किया।

मैं अपनी धर्मपत्नी श्रीमती मनोरमा जैन (जैनदर्शनाचार्य) तथा पुत्र श्री अभिषेक कुमार जैन को उनके सहयोग के लिए साधुवाद देता हूँ। डॉ. कपिलदेव गिरि तथा तारा प्रिंटिंग प्रेस के श्री रविप्रकाश पण्ड्या जी को धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने पुस्तक की सुन्दर छपाई में सहयोग किया है। लेखन में जो त्रुटियाँ हुई हों उन्हें विद्वत् पाठकगण क्षमा करेंगे तथा अपने बहुमूल्य विचारों से मुझे उपकृत करेंगे।

श्रुतपंचमी
वी॰नि॰सं॰ २५२०
१४ जून, १९९४

**डॉ॰ सुदर्शन लाल जैन**
*मन्त्री, अ॰भा॰दि॰ जैन विद्वत् परिषद्*
*अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, कला संकाय*
*काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी*

# विषय-सूची

**जीवस्थिति-सूचक गुणस्थान-चक्र**
**अ.भा.दि. जैन विद्वत्परिषद् के संरक्षक, पदाधिकारी तथा कार्यकारिणी सदस्य**
**आशीर्वाद** (पं॰ जगन्मोहन लाल शास्त्री, डॉ. दरबारी लाल कोठिया, प्रो. खुशालचन्द्र गोरावाला, डॉ. देवेन्द्र कुमार शास्त्री)
**प्रकाशकीय** (प्रकाशन मंत्री की लेखनी से)
**प्राक्कथन**

**प्रथम अध्याय : देव (अर्हन्त और सिद्ध) का स्वरूप (१-२६)**

**प्रस्तावना**— सच्चे देव शब्द का अर्थ १, भट्टारक-परम्परा से शासन देवी-देवताओं की पूजा का अनुचित प्रवेश ३, देव सृष्टिकर्ता आदि नहीं ३, देवस्तुति का प्रयोजन ४, तारणस्वामी द्वारा देवस्तुति का निषेध नहीं ४, शक्ति की अपेक्षा प्रत्येक आत्मा परमात्मा है ५, देव के आप्तादि नाम और उसके भेद ५।

**अर्हन्त (जीवन्मुक्त)**— अर्हन्त के भेद ८, सिद्धों की भी अर्हन्त संज्ञा ९, अर्हन्तों के छियालीस गुण १०, चार अनन्त चतुष्टय १०, आठ प्रातिहार्य १०, चौतीश अतिशय (आश्चर्यजनक गुण) ११, जन्म के दश अतिशय ११, केवलज्ञान के ग्यारह अतिशय ११, देवकृत तेरह अतिशय ११, अन्य अनन्त अतिशय और अर्हन्त के लिए स्थावर-प्रतिमा का प्रयोग १२, **अर्हन्त की अन्य विशेषतायें**— अठारह दोषों का अभाव १३, परमौदारिक शरीर होने से कवलाहार और क्षुधादि परीषहों का अभाव १३, अर्हन्तों में इन्द्रिय, मन, ध्यान, लेश्या आदि का विचार १४, केवली समुद्घात-क्रिया १५, दिव्यध्वनि का खिरना १६, मृतशरीर सम्बन्धी दो धारणाएँ तथा शरीरमुक्त आत्मा की स्थिति १६, विहारचर्या १६।

**सिद्ध (विदेहमुक्त)**— सिद्धावस्था की प्राप्ति कब? १७, सिद्धों के सुखादि १७, चैतन्यमात्र ज्ञानशरीरी १८, सिद्धों का स्वरूप १८, सिद्धों के प्रसिद्ध आठ गुण १९, प्रकारान्तर से सिद्धों के अन्य अनन्त गुण २०, सिद्धों में औपशमिकादि भावों का अभाव २१, संयतादि तथा जीवत्व आदि २१, सिद्धों की अवगाहना आदि २२, संसार में पुनरागमन का अभाव २३, सिद्धों में परस्पर अपेक्षाकृत भेद २४, अर्हन्त और सिद्धों में कथंचित् भेदाभेद २४।

**उपसंहार**— २५

**द्वितीय अध्याय : शास्त्र (आगम-ग्रन्थ) (२७-४६)**

**शास्त्र का अभिप्राय—** २७, **इतिहास—** शब्दों की अपेक्षा भावों का प्राधान्य २७, भगवान् की वाणी २८, मूलसंघ में विखराव २८, कसायपाहुड, छक्खण्डागम आदि श्रुतावतार ३०, मूल आगम (अनुपलब्ध) ३१, अङ्ग के बारह भेद ३१, अङ्गबाह्य के चौदह भेद ३१, अङ्ग और अङ्गबाह्य ग्रन्थों की विषयवस्तु आदि ३२।

**आगम का सामान्य स्वरूप—** ३२, श्रुत या सूत्र के दो प्रकार : द्रव्यश्रुत और भावश्रुत ३४, श्रुत तथा आगमज्ञान के अतिचार ३५, श्रुतादि का वक्ता कौन ३५, आगमों की प्रामाणिकता के पाँच आधार-बिन्दु ३६, आधुनिक पुरुषों के द्वारा लिखित वचनों की प्रमाणता कब? ३८, पौरुषेयता अप्रमाणता का कारण नहीं, जैनागम कथंचित् अपौरुषेय तथा नित्य हैं ३८, आगम में व्याकरणादि-विषयक भूल-सुधार कर सकते हैं, प्रयोजनभूत मूलतत्त्वों में नहीं ३९, यथार्थज्ञान होने पर भूल को अवश्य सुधारें ३९, पूर्वाचार्यों की निष्पक्ष दृष्टि ४०, श्रुत का बहुत कम भाग लिपिबद्ध हुआ है, शेष नष्ट हो गया है ४०, आगम की महिमा ४१, आगम का अर्थ करने की पाँच विधियाँ ४१, शास्त्रों और शास्त्रकारों का विभाजन ४३, शास्त्रों के चार अनुयोग ४४, शास्त्रकारों का श्रुतधरादि पाँच श्रेणियों में विभाजन ४४।

**उपसंहार—** ४५

**तृतीय अध्याय : गुरु (साधु) (४७-११५)**

**प्रस्तावना—** गुरु शब्द का अर्थ ४७, परमगुरु ४७, आचार्य, उपाध्याय और साधु गुरु हैं ४७, संयमी साधु से भिन्न की गुरु संज्ञा नहीं ४८, निश्चय से अपना शुद्ध आत्मा ही गुरु है ४९, क्या साधु से भिन्न ऐलकादि श्रावकों को गुरु माना जा सकता है? ५०, आचार्य उपाध्याय और साधु इन तीनों में गुरुपना-मुनिपना समान है ५१।

**आचार्य—** सामान्य स्वरूप ५२, आचार्य के छत्तीस गुण ५४, आचारवत्व आदि आठ गुण ५५, दशस्थिति कल्प ५५, बारह तप ५६, छह आवश्यक ५६, आचार्य दीक्षा-गुरु के रूप में ५६, आर्यिकाओं का गणधर आचार्य कैसा हो? ५७, बालाचार्य ५७, एलाचार्य ५८ निर्यापकाचार्य ५८, छेदोपस्थापना की दृष्टि से निर्यापकाचार्य ५९, सल्लेखना की दृष्टि से निर्यापकाचार्य ५९, समाधिमरण-साधक योग्य निर्यापकाचार्य का स्वरूप ६०, योग्य निर्यापकाचार्य के न मिलने पर ६१, सल्लेखनार्थ निर्यापकों की संख्या ६२, सल्लेखना कब और क्यों? ६२, सदोष शिष्य के प्रति गुरु-आचार्य का व्यवहार ६३, उपाध्याय का स्वरूप ६४, आचार्य आदि साधु-संघ के पाँच आधार ६५।

**साधु (मुनि)—**साधु के पर्यायवाची नाम ६६, सच्चे साधु के गुण ६६, साधु के बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग चिह्न ६८, सराग श्रमण (शुभोपयोगी साधु) ६९, साधु के अट्ठाईस मूलगुण ७०, मूलगुणों का महत्त्व ७२, शील के अठारह हजार भेद ७३, उत्तरगुण (चौरासी लाख उत्तरगुण) ७४।

**निषिद्ध कार्य—** शरीर-संस्कार ७५, अमैत्री-भाव ७५, क्रोधादि ७५, आहार-उपकरण आदि का शोधन न करना ७६, वञ्चनादि तथा आरम्भ-क्रियायें ७६, विकथा तथा अधःकर्मादि-चर्या ७६, पिशुनता, हास्यादि ७६, नृत्यादि ७६, वैयावृत्यादि करते समय असावधानी ७७, अधिक शुभोपयोगी क्रियायें ७७, तृण-वृक्ष-पत्रादि का छेदन ७८, ज्योतिष-मन्त्र-तन्त्र-वैद्यकादि का उपयोग ७८, दुर्जनादि-संगति ७८, सदोष-वसतिका-सेवन ७८, सदोष-आहार-सेवन ७९, भिक्षाचर्या के नियमों को अनदेखा करना ७९, स्वच्छन्द और एकल विहार ७९, लौकिक क्रियाएँ ७९।

**मिथ्यादृष्टि (द्रव्यलिङ्गी) सदोष साधु—** मिथ्यादृष्टि साधु के पार्श्वस्थादि पाँच भेद ८०, मिथ्यादृष्टि का आगमज्ञान ८१, सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की पहचान ८२,

**अपेक्षा-भेद से सच्चे साधुओं के भेद—** उपयोग की अपेक्षा दो भेद ८२, विहार की अपेक्षा दो भेद ८३, आचार और संहनन की उत्कृष्टता-हीनता की अपेक्षा दो भेद ८३, वैयावृत्य की अपेक्षा दश भेद ८४, चारित्र-परिणामों की अपेक्षा पुलाकादि पाँच भेद ८४, पुलाकादि साधु मिथ्यादृष्टि नहीं ८५।

**निश्चय-नयाश्रित शुद्धोपयोगी साधु—** शुद्धोपयोगी साधु की प्रधानता ८६, क्या गृहस्थ ध्यानी (भाव साधु) हो सकता है? ८७, शुभोपयोगी साधु और शुद्धोपयोगी-साधु : समन्वय ८८।

**आहार—** आहार का अर्थ और उसके भेद ९०, आहार-ग्रहण के प्रयोजन ९१, आहारत्याग के छह कारण ९२, आहार-विधि आदि ९२, आहार का प्रमाण ९३, आहार लेने का काल ९४, आहार के समय खड़े होने

की विधि ९४, क्या एकाधिक साधु एक साथ एक चौके में आहार ले सकते हैं? ९४, क्या चौके के बाहर से लाया गया आहार ग्राह्य है? ९५, भिक्षाचर्या को जाते समय सावधानी ९५, आहार लेते समय सावधानी ९५, दातार के सात गुण ९५, आहार के अन्तराय ९६, छियालीस दोषों से रहित आहार की ग्राह्यता ९६, उद्गम के सोलह दोष ९७, उत्पादन के सोलह दोष ९८, एषणा के दश दोष ९९, संयोजनादि चार दोष १००, अन्य दोष— चौदह मलदोष, अधः कर्मदोष १००।

**वसतिका (निवासस्थान)**— वसतिका कैसी हो? १००, शून्य-गृहादि उपयुक्त वसतिकायें हैं १०१, वसतिका कैसी न हो? १०२।

**विहार**— एक स्थान पर ठहरने की सीमा तथा वर्षावास १०३, रात्रि-विहार-निषेध १०४, नदी आदि जलस्थानों में प्रवेश (अपवाद मार्ग) १०५, गमनपूर्व सावधानी १०५, अनियत विहार १०६, विहारयोग्य क्षेत्र एवं मार्ग १०६, एकाकी विहार का निषेध १०६।

**गुरुवन्दना**— वन्दना का समय १०७, वन्दना के अयोग्य काल १०८, वन्दना की विनय-मूलकता १०८, वन्दना के बत्तीस दोष १०८, वन्दना के पर्यायवाची नाम १०९, महत्त्व १०९, कौन किसकी वन्दना करे और किसकी न करे? ११०, वन्दना कैसे करें? १११।

**अन्य विषय**— अन्य संघ से समागत साधु के प्रति आचार्य आदि का व्यवहार १११, बाईस परीषहजय ११२, साधु की सामान्य दिनचर्या ११३,

**आर्यिका-विचार** ११३,

**उपसंहार**-११४

**चतुर्थ अध्याय : उपसंहार** (११६-१२१)

**परिशिष्ट**

**प्रथम परिशिष्ट— प्रसिद्ध दिगम्बर जैन शास्त्रकार और शास्त्र** (१२२-१३८)

श्रुतधराचार्य १२२, सारस्वताचार्य १२६, प्रबुद्धाचार्य १३०, परम्परापोषकाचार्य १३५, आचार्य तुल्य काव्यकार और लेखक १३७।

**द्वितीय परिशिष्ट— संकेताक्षर और सहायक ग्रन्थ-सूची** (१३९-१४२)

●

## प्रथम अध्याय

# देव (अर्हन्त और सिद्ध) का स्वरूप

### प्रस्तावना

संसार में अनेक प्रकार के आराध्य देवों, परस्पर विरुद्ध कथन करने वाले शास्त्रों तथा विविध रूपधारी गुरुओं की अनेक परम्पराओं को देखकर मानव मात्र के मन में स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि इनमें सच्चे देव, सच्चे शास्त्र और सच्चे गुरु कौन हैं? जिनसे स्वयं का एवं संसार के प्राणियों का कल्याण हो सकता है। किसी भी कल्याणकारी धर्म की प्रामाणिकता की कसौटी उसमें स्वीकृत आराध्यदेव, शास्त्र (आगम) और गुरु हैं। यदि आराध्य देव रागादि से युक्त हों, शास्त्र रागादि के प्रतिपादक हों तथा रागादि भावों से युक्त होकर गुरु रागादिजनक विषयों के उपदेष्टा हों तो उनसे किसी भी प्रकार के कल्याण की कामना नहीं की जा सकती है। अतः कल्याणार्थी को सच्चे देव, शास्त्र और गुरु की ही शरण लेना चाहिए। जैनधर्म के आगम ग्रन्थों में सच्चे देव, शास्त्र और गुरु की जो पहचान बतलाई है उसका विचार यहाँ क्रमशः तीन अध्यायों में किया जायेगा।

### सच्चे देव शब्द का अर्थ

जैन आगमों में 'देव' शब्द का प्रयोग सामान्यतया जीवन्मुक्त (अर्हन्त), विदेहमुक्त (सिद्ध) तथा देव गति के जीवों के लिए किया गया है। इनमें से प्रथम दो (अर्हन्त और सिद्ध) में ही वास्तविक देवत्व है, अन्य में नहीं। देवगति के देव चार प्रकार के हैं[१]–

भवनवासी (प्रायः भवनों में रहने वाले), व्यन्तर (विविध देशान्तरों तथा वृक्षादिकों में रहने वाले), ज्योतिष्क (प्रकाशमान सूर्य, चन्द्रमा आदि), और वैमानिक (रूढि से विमानवासी, क्योंकि ज्योतिष्क देव भी विमान में रहते हैं)। देवगति में स्थित इन चार प्रकार के जीवों में वैमानिक देवों की श्रेष्ठता है। वैमानिकों में भी सर्वार्थसिध्दि तथा लौकान्तिक (पंचम स्वर्गवर्ती) के देव एक वार मनुष्य

१. देवाश्चतुर्णिकायाः। –त०सू० ४.१.
के पुनस्ते? भवनवासिनो व्यन्तरा ज्योतिष्का वैमानिकाश्चेति। –स० सि० ४.१.

जन्म लेकर तथा विजयादिक के देव दो बार मनुष्य जन्म लेकर नियम से मोक्ष प्राप्त करते हैं।[१] नव अनुदिश, पाँच अनुत्तर तथा लौकान्तिक देव नियम से मोक्षगामी होते हैं और इन देवगतियों में सम्यग्दृष्टि जीव ही उत्पन्न हाते हैं। लौकान्तिक देव केवल दीक्षा-कल्याणक में आते हैं अर्थात् जब भगवान् को वैराग्य होता है और वे दीक्षा लेते हैं तो लौकान्तिक देव आकर उनके विचारों का समर्थन करते हैं, फिर कभी नहीं आते। भवनत्रिक (भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क) देवों को अधम देव (कुदेव) कहा गया है।[२] यद्यपि नवग्रैवेयक तक मिथ्यादृष्टि भी जाते हैं परन्तु उन्हें कुदेव नहीं कहा गया है। इनकी पूजा नहीं होती।

भवनवासी,व्यन्तर और ज्योतिष्क देवों में सम्यग्दृष्टि जन्म नहीं लेते हैं। यहाँ सौधर्म इन्द्र का शासन होता है। अतः भवनत्रिक के देव और श्री आदि देवियाँ सौधर्म इन्द्र के शासन में रहते हैं। सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से ही ये तीर्थङ्करों की सेवा करते हैं। अतएव पद्मावती, क्षेत्रपाल आदि को मन्दिरों में भगवान् के सेवक के रूप में प्रतिष्ठित किया जाता है। ये भगवान् की तरह पूज्य नहीं हैं। जिनेन्द्रभक्त होने से क्षेत्रपालादि में साधर्म्य-वात्सल्य रखा जा सकता है, पूज्य देवत्व मानना मूढता (अज्ञान) है। सरागी देवों से अनर्घ्यपद (मोक्षपद) प्राप्त की कामना करके उन्हें मन्त्र पढ़कर अर्घ्य चढ़ाना, अज्ञान नहीं तो क्या है? इनके अलावा संसार में कई कल्पित देव (अदेव) हैं। जिन क्षेत्रपाल आदि के नाम जैन सम्मत देवगति के जीवों में आते हैं उन्हें कुदेव (अधम या मिथ्यादृष्टि देव) कहा गया है तथा जिनका नाम जैनसम्मत देवगति में कहीं नहीं आता है ऐसे कल्पित देवों को अदेव (अदेवे देवबुद्धिः) कहा गया है। अर्हन्त और सिद्ध देवाधिदेव हैं जिनकी सभी (चारों गतियों के देवादि) जीव आराधना करते हैं।[३] यहाँ देवगति को प्राप्त संसारी जीवों का विचार करना अपेक्षित नही हैं अपितु वीतरागी, आराध्य देवाधिदेव ही विचारणीय हैं, क्योंकि उन्हें ही सच्चे देव, परमात्मा, भगवान्, ईश्वर आदि नामों से कहा गया है। इस तरह सामान्य रूप से कथित देवों को निम्न चार भागों में विभक्त किया जा सकता है–

१. ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः। –त०सू ४.२४
विजयादिषु द्विचरमाः। –त०सू०, ४.२६ तथा इस पर सर्वार्थसिद्धि आदि टीकाएँ।

२. भवनवास्यादिष्वधमदेवेषु। –ध० १/१.१.१६९/४०६/५.

३. देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान्। –आ०मी०१, तथा वही, २-७.



(१) देवाधिदेव (अर्हन्त और सिद्ध)। ये ही सच्चे आराध्य देव हैं।
(२) सामान्य देव (देवगति के सम्यग्दृष्टि देव)।
(३) कुदेव (देवगति के मिथ्यादृष्टि देव = भवनत्रिक के देव)।
(४) अदेव (कल्पित देव)।

### भट्टारक-परम्परा से शासन देवी-देवताओं की पूजा का अनुचित प्रवेश

वि.सं. १३१० में आचार्य प्रभाचन्द्र दि० जैन मूलसंघ के पट्ट पर आसीन हुए। इनके समय में एक विशेष घटना हुई– वि. स. १३७५ में शास्त्रार्थ में विजयी होने पर दिल्ली के बादशाह ने राजमहल में आकर दर्शन देने की प्रार्थना की। एक नग्न साधु राजमहलों में रानियों के समक्ष कैसे जाए? न जाने पर राजप्रकोप का भय देखकर तथा समाज के विशेष अनुरोध पर धर्मवृद्धि हेतु आचार्य प्रभाचन्द्र लंगोटी धारण करके राजमहल में गए। पश्चात् मुनि-परम्परा में शिथिलाचार न आ जाए एतदर्थ आचार्य पद छोड़कर ८९ वर्ष की आयु में भट्टारक नाम रखा। सवस्त्र भट्टारक वस्तुतः श्रावक ही कहलाए। परन्तु इस अपवादमार्ग का कालान्तर में बड़ा दुरुपयोग हुआ। जिनेन्द्र देव की मूर्तियों की रक्षार्थ सेवक के रूप में जो शासन देवी-देवताओं की मूर्तियाँ रखी गई थीं उन्हीं की पूजा की जाने लगी और वस्त्रधारी भट्टारकों द्वारा सरागी शासनदेवी-देवताओं की पूजा से सुख-साधनों का समाज में प्रचार हुआ। इस तरह सरागी संसारी देवों की पूजा का शुभारम्भ हुआ जो सर्वथा अनुचित है और मिथ्यात्व का द्योतक है। वस्तुतः पद्मावती आदि देवियाँ और अन्य शासन देव अपूज्य हैं।[१] जिनेन्द्रभक्त होने से उनमें वात्सल्यभाव रखा जाना उचित है।

### देव सृष्टिकर्ता आदि नहीं

जैनागमों में भगवान् को सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता और संहारकर्ता के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है, अपितु मोक्षमार्ग के नेता (हितोपदेष्टा), कर्मरूपीपर्वतों के भेत्ता (निर्दोष एवं वीतरागी) तथा समस्त पदार्थों के ज्ञाता के रूप में स्वीकार किया है और उन्हें ही नमस्कार किया गया है।[२] इससे स्पष्ट

१. देखें, पं. जगन्मोहन लाल शास्त्री, परवार जैन समाज का इतिहास, प्रस्तावना, पृ० २७-३४ ।

२. मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये।। –तत्त्वार्थसूत्र, मंगलाचरण ।

है कि देवाधिदेव वे ही पुरुष-विशेष हैं जो वीतरागी हैं तथा जिन्होंने आत्मा का घात करने वाले समस्त कर्मों को नष्ट करके सर्वज्ञता प्राप्त कर ली है। ऐसे देवों को सृष्टिकर्त्ता, पालनकर्त्ता और संहारकर्त्ता मानने पर अनेक कठिनाईयाँ उपस्थित होती हैं जिनका प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि जैनन्याय के ग्रन्थों में विस्तार से विवेचन किया गया है।

## देवस्तुति का प्रयोजन

वीतरागी स्वभाव होने से भगवान् निन्दा अथवा स्तुति से न तो नाराज होते हैं और न प्रसन्न। कर्मरूपी आवरण के नष्ट होने से अनन्त शक्ति सम्पन्न होने पर भी वीतरागता के कारण संसार की सृष्टि आदि से उनका कोई प्रयोजन नहीं है। वीतरागी अर्हन्त और सिद्धों की भक्ति किसी सांसारिक-कामना की पूर्ति हेतु नहीं की जाती, अपितु उन्हें आदर्श पुरुषोत्तम मानकर केवल उनके गुणों का चिन्तवन किया जाता है और वैसा बनने की भावना भायी जाती है। फलतः भक्त के परिणामों में स्वभावतः निर्मलता आती है, इसमें ईश्वरकृत कृपा आदि अपेक्षित नहीं है। देवमूर्ति, शास्त्र एवं गुरु के आलम्बन से भक्त अपना कल्याण करता है। अतः व्यवहार से उन्हें कल्याण का कर्ता कहते हैं, निश्चय से नहीं, क्योंकि कोई द्रव्य अन्य द्रव्य का कर्ता नहीं है, सभी द्रव्य अपने-अपने कर्त्ता हैं। उपादान में ही कर्तृत्व है। निमित्त उसमें सहायक हो सकता है क्योंकि व्यावहारिक भाषा में परनिमित्त को कर्त्ता कहते हैं। अध्यात्म की भाषा में पर-पदार्थ निमित्तमात्र है, कर्त्ता नहीं। अतएव भक्तिस्तोत्रों में फलप्राप्ति की जो भावनायें की गई हैं वे औपचारिक व्यवहार नयाश्रित कथन हैं। भावों की निर्मलता ही कार्य-सिद्धि में साधक होती है। अर्थात् वीतरागभक्ति से भावों में निर्मलता आती है और फलस्वरूप कर्मरज के हटने से भक्त्यनुसार फलप्राप्ति होती है। मोक्षार्थी को सांसारिक लाभ की कामना नहीं करना चाहिए क्योंकि इससे संसार-स्थिति बढ़ती है, मुक्ति नहीं।[१]

## तारणस्वामी द्वारा देवस्तुति का निषेध नहीं

वि. सं. १५९५ में तारणपंथ के प्रतिष्ठापक तारणस्वामी ने अपने चौदह ग्रन्थों में कहीं भी जिन-प्रतिमाओं का निषेध नहीं किया है अपितु उन्होंने अदेव

१ अरहंत-सिद्धचेदियपवयण-गणणाण-भत्तिसंपण्णो।
बंधदि पुण्णं बहुसो ण दु सो कम्मक्खयं कुणदि।। –पंचास्तिकाय १६६
तम्हा णिव्वुदिकामो णिस्संगो णिम्ममो य हविय पुणो।
सिद्धेसु कुणदि भत्तिं णिव्वाणं तेण पप्पोदि।। –पंचा.१६९



में देवबुद्धि का निषेध किया है। इनके काल में मुगलों का शासन था। मूर्तियों और मन्दिरों को तोड़ा जा रहा था। साधु-परम्परा भी टूट रही थी। ऐसे समय में समस्त हिन्दू समाज अपने धर्मायतनों की रक्षा के लिए चिंतित था। इसी चिन्ता में निमग्न तारणस्वामी ने जैनशास्त्रों की रक्षा हेतु शास्त्र-पूजा का विधान किया ताकि कालान्तर में जैनधर्म सुरक्षित रह सके। जहाँ शास्त्र (प्राचीन शास्त्र और तारणस्वामी द्वारा लिखित शास्त्र) रखे गए उस स्थान का नाम चैत्यालय रखा गया। 'चैत्य' नाम 'प्रतिमा' का वाचक है। इस तरह तारणस्वामी ने विकट परिस्थितियों में प्रकारान्तर से देवस्तुति का समर्थन ही किया है, निषेध नहीं।[१]

## शक्ति की अपेक्षा प्रत्येक आत्मा परमात्मा है

दुःख और संसार-परिभ्रमण का कारण है – राग। जब रागभाव पूर्णरूप से निर्जीर्ण हो जाता है तब आत्मा के आवरक कर्मों का भी क्रमशः पूर्ण क्षय हो जाता है। फलस्वरूप स्वयंप्रकाश चैतन्य आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव को प्राप्त कर परमात्मा बन जाता है। अतएव कहा है 'प्रत्येक आत्मा परमात्मा है'।[२]

## देव के आप्तादि नाम और उसके भेद

आत्मा से परमात्मा बने पुरुषोत्तम को ही 'आप्त' (प्रामाणिक पुरुष) कहा जाता है। भूख, प्यास, भय, क्रोध, राग, मोह, चिन्ता, बुढ़ापा, रोग, मृत्यु, पसीना, खेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा, जन्म और उद्वेग (अरति) इन अठारह दोषों का 'आप्त' में सर्वथा अभाव होता है।[३] इसे ही परमेष्ठी, परंज्योति, विराग, विमल, कृती, सर्वज्ञ आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है।[४] जो त्रिकालवर्ती गुण और पर्यायों से युक्त

१. परवार जैन समाज का इतिहास, प्रस्तावना, पृ० ३५

२. यः परमात्मा स एवाऽहं योऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः।। –समाधिशतक ३१.

३. छुहतण्हभीरुरोसो रागो मोहो चिंता जरारुजामिच्चू।
स्वेदं खेदं मदो रइ विम्हियणिद्दाजणुव्वेगो।। –नियमसार ६.
आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत्।। –र०क० ५.
क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मयाः।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते।। –र०क० ६.

४. परमेष्ठी परंज्योतिर्विरागो विमलः कृती।
सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्तः सार्वः शास्तोपलाल्यते ।। –र. क. ७.

समस्त द्रव्यों को तथा समस्त लोकालोक को प्रत्यक्ष (इन्द्रियादि-निरपेक्ष दिव्यज्ञान अर्थात् केवलज्ञान से) जानता है, वह सर्वज्ञ देव है।[१]

'दिव्' धातु का प्रयोग क्रीड़ा, जय आदि अनेक अर्थों में होता है। इसी 'दिव्' धातु से 'देव' शब्द बनता है। देव शब्द का अर्थ करते हुए कार्तिकेयानुप्रेक्षा की टीका में पञ्च परमेष्ठी (अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु) को 'देव' कहा है— 'जो परमसुख में क्रीड़ा करता है, अथवा जो कर्मों को जीतने के प्रयत्न में संलग्न है अथवा जो करोड़ों सूर्यों से भी अधिक तेज से देदीप्यमान है, वह देव है। जैसे— अर्हन्त परमेष्ठी (जो धर्मयुक्त व्यवहार का विधाता है तथा लोक-अलोक को जानता है), सिद्ध परमेष्ठी (जो शुद्ध आत्मस्वरूप से स्तुति किया जाता है), आचार्य, उपाध्याय और साधु।[२]

यहाँ आचार्य आदि में आंशिक रत्नत्रय का सद्भाव होने से उन्हें उपचार से 'देव' कहा गया है।[३] इसी प्रकार रत्नत्रय की दृष्टि से नव देवताओं का

१. जो जाणदि पच्चक्खं तियालगुण-पच्चएहिं संजुत्तं।
लोयालोयं सयलं सो सव्वण्हू हवे देवो।। —का०अ० ३०२.

२. दीव्यति क्रीडति परमानन्दे इति देवः, अथवा दीव्यति कर्माणि जेतुमिच्छति इति देवः, वा दीव्यति कोटिसूर्याधिकतेजसा द्योतत इति देवः, अर्हन्, वा दीव्यति धर्मव्यवहारं विदधाति देवः, वा दीव्यति लोकालोकं गच्छति जानाति, ये गत्यर्थास्ते ज्ञानार्था इति वचनात्, इति देवः, सिद्धपरमेष्ठी, वा दीव्यति स्तौति स्वचिद्रूपमिति देवः, सूरि-पाठक-साधुरूपस्तम्।
—का०अ०, टीका १.१.१५.

३. आचार्य, उपाध्याय और साधु में कथंचिद् देवत्व तथा एतद्विषयक शंका-समाधान—
सर्वज्ञवीतरागस्य स्ववशस्यास्य योगिनः ।
न कामपि भिदां क्वापि तां विद्मो हा जडा वयम् ।।
—नियमसार, ता० वृ० १४६ क, २५३/२९६.

युक्तः प्राप्तात्मस्वरूपाणामर्हतां सिद्धानां च नमस्कारः, नाचार्यादीनामप्राप्तात्मस्वरूपत्व-वतस्तेषां देवत्वाभावादिति न, देवो हि नाम त्रीणि रत्नानि स्वभेदतोऽनन्तभेदभिन्नानि, तद्विशिष्टो जीवोऽपि देवः, अन्यथा शेषजीवानामपि देवत्वापत्तेः। तत आचार्यादयोऽपि देवा रत्नत्रयास्तित्वं प्रत्यविशेषात्। नाचार्यादिस्थितरत्नानां सिद्धस्थरत्नेभ्यो भेदो रत्नानामाचार्यादिस्थितानामभावापत्तेः ।....... सम्पूर्णरत्नानि देवो न तदेकदेश इति चेन्न, रत्नैकदेशस्य देवत्वाभावे समस्तस्यापि तदसत्त्वापत्तेः। न चाचार्यादिस्थितरत्नानि कृत्स्नकर्मक्षयकर्तॄणि रत्नैकदेशत्वादिति चेन्न, अग्निसमूहकार्यस्य पलालराशिदाहस्य तत्कणादप्युपलम्भात् । तस्मादाचार्यादयोऽपि देवा इति स्थितम्।
—ध०१/१.१.१/५२/२., तथा देखिए ध० ९/४.१.१/११/१; बोधपाहुड २४-२५



भी उल्लेख मिलता है। वे नव देवता हैं— पाँच परमेष्ठी, जिनधर्म, जिनवचन, जिनप्रतिमा और जिनमन्दिर[१]। इससे स्पष्ट है कि पूज्य वही है जो देव हो और देवत्व (ईश्वरत्व) वहीं है जहाँ रत्नत्रय अथवा रत्नत्रय का अंश अथवा शुद्ध रत्नत्रयप्राप्ति की हेतुता हो।

पंचाध्यायी में रागादि और ज्ञानावरणादि कर्मों के अभाव से जन्य अनन्तचतुष्टय (केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त सुख और अनन्तवीर्य) से सम्पन्न आत्मा को 'देव' कहा है[२]। वह देव शुद्धोपलब्धिरूप द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा एक प्रकार का है— 'सिद्ध'; परन्तु पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से दो प्रकार का है— अर्हन्त और सिद्ध[३]।

इस तरह इन देवों को विशेष-विशेष गुणों की अपेक्षा विभिन्न नामों से पुकारा जाता है; जैसे— आप्त (प्रामाणिक वक्ता), सर्वज्ञ (त्रिकालवर्ती सकल पदार्थों को प्रत्यक्ष जानने वाला), जिन (क्रोधादि को जीतने वाला), अर्हत् (पूज्य), अर्हन्त (कर्म-शत्रुहन्ता), जीवन्मुक्त (आयुः कर्म के कारण शरीर रहते हुए भी मुक्त), विदेहमुक्त (शरीररहित सिद्धावस्था), केवली (केवलज्ञानी = सर्वज्ञ), सिद्ध (शुद्ध स्व-स्वरूपोपलब्धि), अनन्तचतुष्टयसम्पन्न (अनन्तदर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्य से युक्त) आदि नामों से कहा गया है। इन्हें मुख्यतः अर्हन्त (शरीरसहित) और सिद्ध (शरीररहित) इन दो भागों में विभक्त करके यहाँ विचार किया गया है, क्योंकि व्यक्ति अपने कर्मों को नष्ट करके जब स्वयं परमात्मा बन जाता है तो उसकी क्रमशः ये दो अवस्थायें सम्भव हैं— अर्हन्त और सिद्ध।

१. अरहंतसिद्धसाहूतिदयं जिणधम्मवयणपडिमाहू।
जिण-णिलया इदिराए णवदेवता दिंतु मे बोहिं।। —र. क. ११९/१६८ पर उद्धृत।

२. दोषो रागादिसद्भावः स्यादावरणं च कर्म तत्।
तयोरभावोऽस्ति निःशेषो यत्रासौ देव उच्यते।। —पं. अ., उ. ६०३.
अस्त्यत्र केवलं ज्ञानं क्षायिकं दर्शनं सुखम्।
वीर्यं चेति सुविख्यातं स्यादनन्तचतुष्टयम्।। —पं. अ., उ. ६०४.
तथा देखिए, बोधपाहुड २४-२५; दर्शनपाहुड, २.१२.२०

३. एको देवो स द्रव्यार्थात्सिद्धः शुद्धोपलब्धितः।
अर्हन्निति सिद्धश्च पर्यायार्थाद्द्विधा मतः।। —पं० अ०, उ० ६०६.

## अर्हन्त (जीवन्मुक्त)

पूजार्थक 'अर्ह्' धातु से 'शतृ' (अत्) प्रत्यय करने पर 'अर्हत्' शब्द बनता है। इसीलिए देव अतिशय पूजा, सत्कार तथा नमस्कार के योग्य होने से और तद्भव मोक्ष जाने के योग्य होने से अर्हन्त, अर्हन् या अर्हत् कहलाते हैं।[१] कर्म- शत्रु का हनन करने से 'अरिहन्त' संज्ञा भी है।[२] भावमोक्ष, केवलज्ञानोत्पत्ति, जीवन्मुक्त और अर्हत् ये सभी एकार्थ-वाचक हैं।[३] जैनधर्म के अनुसार ज्ञानावरणीय आदि चार घातिया कर्मों के क्षय के बाद केवलज्ञान प्रकट होता है। केवलज्ञान होने के बाद साधक 'केवली' कहलाता है। इसे ही अर्हत्, अर्हन्त, अरिहन्त जीवन्मुक्त आदि कहते हैं। इन्हें ही त्रिलोक-पूजित परमेश्वर कहा गया है।[४]

### अर्हन्त के भेद

अपेक्षा भेद से अर्हन्त के दो प्रकार हैं – तीर्थङ्कर और सामान्य केवली। जिनके कल्याणक-महोत्सव मनाए जाते हैं, ऐसे अर्हन्त पद को प्राप्त विशेष पुण्यशाली आत्माओं को तीर्थङ्कर कहते हैं तथा कल्याणकों से रहित शेष को सामान्य केवली (अर्हन्त) कहते हैं।

---

१. अरिहंति णमोक्कारं अरिहा पूजा सुरुत्तमा लोए।
अरिहंति वंदण-णमंसणाणि अरिहंति पूयसक्कारं।
अरिहंति सिद्धिगमणं अरहंता तेण उच्चंति।। --मू०आ० ५०५,५०६.
अतिशयपूर्जार्हत्वद्वार्हन्तः। –ध० १/१.१.१/४४/६.
पञ्चमहाकल्याणरूपां पूजामर्हति योग्यो भवति तेन कारणेन अर्हन् भण्यते। –द्रव्यसंग्रह, टीका ५०/२११/१ तथा देखिए। महापुराण ३३/१८६, नयचक्र (बृहद्) २७२.

२. जर-वाहि जम्म-मरणं चउग्गइगमणं च पुण्णपावं च।
हंतूण दोसकम्मे दुउ णाणमयं च अरहंतो।। –बो०पा० ३०.
रजहंता अरिहंति य अरहंता तेण उच्चदे। ५०५
जिदकोहमाणमाया जिदलोहा तेण ते जिणा होन्ति।
हंता अरिं च जम्मं अरहंता तेण वुच्चंति।। –मू०आ० ५६१
तथा देखिए, धवला १/१.१.१./४२.९.

३. भावमोक्षः केवलज्ञानोत्पत्तिः जीवन्मुक्तोऽर्हत्पदमित्येकार्थः ।
–पंचास्तिकाय, ता०वृ० १५०/२.१६/१८.

४. सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः ।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वरः।। –हेम० निश्चयालङ्कार।



अर्हन्त के सात प्रकार भी गिनाए गए हैं – (१) पाँचों कल्याणकों से युक्त तीर्थङ्कर (जो पूर्वजन्म में तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध करते हैं उनके पाँचों कल्याणक होते हैं), (२) तीन कल्याणकों से युक्त तीर्थङ्कर (जो उसी जन्म में तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध करके तद्भव मोक्षगामी होते हैं उनकी दीक्षा, तप और मोक्ष ये तीन या इनमें से दो कल्याणक होते हैं। ये विदेहक्षेत्र में होते हैं), (३) दो कल्याणकों से युक्त तीर्थङ्कर, (४) सातिशय केवली (गन्धकुटीयुक्त केवली), (५) सामान्य केवली अथवा मूक केवली (जो उपदेश नहीं देते), (६) उपसर्ग केवली (जिनको उपसर्ग के बाद केवलज्ञान हो) और (७) अन्तकृत् केवली। इसी प्रकार अन्य अपेक्षा से तद्वस्थ केवली (जिस पर्याय में केवलज्ञान प्राप्त हुआ है उसी पर्याय में स्थित 'केवली') तथा सिद्धकेवली (सिद्ध जीव ) ये भेद भी मिलते हैं।[१] केवली के मनोयोग न होने से केवल वचन और काययोग की प्रवृत्ति की अपेक्षा जीवन्मुक्त के सयोगकेवली (१३ वें गुणस्थानवर्ती) और अयोगकेवली (१४ वें गुणस्थानवर्ती) ये दो भेद प्रसिद्ध हैं। केवलज्ञानरूपी सूर्य की किरणों से जिसका अज्ञान विनष्ट हो गया है, जिसने केवल-लब्धि प्राप्तकर परमात्म-संज्ञा प्राप्त कर ली है, वह असहाय (स्वतन्त्र, निरावरण) ज्ञान और दर्शन से युक्त होने के कारण केवली, दो योगों से सहित होने के कारण 'सयोगी' तथा घातिकर्मों से रहित होने के कारण 'जिन' कहा जाता है। जो १८ हजार शीलों के स्वामी हैं, आस्रवों से रहित हैं, नूतन बंधने वाले कर्मरज से रहित हैं, योग से रहित हैं, केवलज्ञान से विभूषित हैं उन्हें अयोगी परमात्मा (अयोगी जिन) कहा जाता है।[२]

### सिद्धों की भी 'अर्हन्त' संज्ञा

कर्मशत्रु के विनाश के प्रति दोनों (अर्हन्त और सिद्ध) में कोई भेद न होने से धवला में सिद्धों को भी अर्हन्त (अरहन्त, अरिहन्त) कहा है– जिन्होंने घातिकर्म

---

१. क०पा०, जयधखला १/१.१.६/३११.

२. केवलणाण-दिवायर-किरणकलावप्पणासि अण्णाओ।
णवकेवल-लद्धुग्गमपाविय परमप्प-ववएसो।। २७
असहय-णाण-दंसण-सहिओ वि हु केवली हु जोएण।
जुत्तो त्ति सजोइजिणो अणाइणिहणारिसे वुत्तो।। २८
सेलेसिं संपत्तो णिरुद्धणिस्सेस आसओ जीवो।
कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होई।। –पंचसंग्रह (प्राकृत) ३०.
तथा देखिए, गो०जीव० ६३-६५; द्रव्यसंग्रह टीका १३/३५.

को नष्ट करके केवलज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों को देख लिया है वे अरिहन्त हैं। अथवा घाति-अघाति आठों कर्मों को दूर कर देने वाले अरिहन्त हैं, क्योंकि अरि-हनन (कर्मशत्रु-विनाश) दोनों में समान है।[1] जैसा कि कहा है– "अरि = शत्रु का नाश करने से 'अरिहंत' यह संज्ञा प्राप्त होती है। समस्त दुःखों की प्राप्ति का निमित्तकारण होने से मोह को 'अरि' कहते हैं। ...... अथवा रज = आवरक कर्मों का नाश करने से 'अरिहन्त' यह संज्ञा प्राप्त होती है। ........ अन्तराय कर्म का नाश शेष तीन कर्मों (मोहनीय, ज्ञानावरण और दर्शनावरण) के नाश का अविनाभावी है और अन्तराय कर्म के नाश होने पर चार अघातिया कर्म भी भ्रष्ट बीज के समान निःशक्त हो जाते है[2]।" अर्हन्तों और सिद्धों में इसीलिए कथंचिद् भेद और कथंचिद् अभेद माना जाता है।

**अर्हन्तों के छियालीस गुण**[3]

शास्त्रों में अर्हन्तों के जो ४६ गुण बतलाए गए हैं वे तीर्थङ्करों में पाए जाते हैं, सभी अर्हन्तों में नहीं। अर्हन्तों के ४६ गुण निम्न हैं :—

**(क) चार अनन्त चतुष्टय**– अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य—– ये चार अनन्त चतुष्टयरूप गुण जीव के आत्मिक गुण (वास्तविक) हैं जो सभी अर्हन्तों में नियम से हैं, परन्तु शेष निम्न ४२ बाह्यगुण भजनीय हैं (किसी में हैं, किसी में नही हैं)।

**(ख) आठ प्रातिहार्य** (इन्द्रजाल की तरह चमत्कारी गुण)– अशोक वृक्ष, सिर पर तीन छत्र, रत्नखचित सिंहासन, दिव्यध्वनिखिरनो,[4] दुन्दुभि-नाद, पुष्प-

१. खविदघादिकम्मा केवलणाणेण दिट्ठसव्वट्ठा अरहंता णाम। अधवा, णिट्ठविदट्ठकम्माणं घाइदघादिकम्माणं च अरहंते त्ति सण्णा, अरिहणणं पदिदोण्हं भेदाभावादो। –ध० ८/३.४१/८९/२.

२. अरिहननादरिहन्ता। अशेषदुःखप्राप्तिनिमित्तत्वादरिर्मोहः। .... रजो हननाद्वा अरिहन्ता।........ रहस्यमन्तरायः तस्य शेषघातित्रितयविनाशाविनाभाविनो भ्रष्टबीजवद्भिन्नशक्तीकृताघातिकर्मणो हननादरिहन्ता। –ध० १/ १.१.१/४२/९.

३. तिलोयपण्णत्ति ४/९०५–९२३, जम्बूद्वीपपण्णत्ति १३/९३–१३०, दर्शनपाहुड टीका ३५/२८.

४. तिलोयपण्णत्ति में दिव्यध्वनि–खिरना' के स्थान पर 'भक्तियुक्तगणों द्वारा वेष्टित रहना लिखा है। वही।



वृष्टि, पृष्ठभाग में प्रभामण्डल तथा चौसठ चमरयुक्त होना। ये आठ प्रातिहार्य कहलाते हैं।

**(ग) चौंतीस अतिशय (आश्चर्यजनक गुण)**— जन्म के १०, केवलज्ञान के ११ तथा देवकृत (देव गति के देवकृत) १३ अतिशयों को मिलाकर कुल चौंतीस अतिशय होते हैं। तिलोयपण्णत्ति में 'दिव्यध्वनि' (भाषाविशेष) नामक देवकृत अतिशय को केवलज्ञान के अतिशयों में गिनाया है जिससे प्रसिद्ध अतिशयों के साथ केवलज्ञान और देवकृत अतिशयों में अन्तर आ गया है। वस्तुतः दिव्यध्वनि अतिशय केवलज्ञान से सम्बन्धित है परन्तु देव उसे मनुष्यों की तत्तद् भाषारूप परिणमा देते हैं जिससे उसे देवकृत अतिशय भी माना जा सकता है।

**(अ) जन्म के १० अतिशय** (तीर्थङ्कर के जन्मसमय में स्वाभाविकरूप से उत्पन्न अतिशय)– १. पसीना न आना, २. निर्मल शरीर, ३. दूध के समान धवल (सफेद) रक्त, ४. वज्रवृषभनाराचसंहनन (जिस शरीर के वेष्टन = वृषभ, कीलें=नाराच और हड्डियाँ = संहनन वज्रमय हों), ५. समचतुरस्र शरीर-संस्थान (शरीर का ठीक प्रमाण में होना, टेढ़ा आदि न होना), ६. अनुपम रूप, ७. नृप-चम्पकपुष्प के समान उत्तम सुगन्ध को धारण करना, ८. एक हजार आठ उत्तम लक्षणों को धारण करना, ९. अनन्त बल और १०. हित-मित-प्रिय भाषण। ये जन्म से सम्बन्धित दश अतिशय हैं।

**(ब) केवलज्ञान के ११ अतिशय** (घातिया कर्मों के क्षय होने पर केवलज्ञान के साथ-साथ उत्पन्न होने वाले अतिशय)— १. चारों दिशाओं में एक सौ योजन तक सुभिक्षता, २. आकाशगमन, ३. हिंसा का अभाव, ४. भोजन का अभाव, ५. उपसर्ग का अभाव, ६. चारों ओर (सबकी ओर) मुख करके स्थित होना, ७. छायारहित होना, ८. निर्निमेष दृष्टि (पलक न झपकना), ९. समस्त विद्याओं का ज्ञान, १०. सजीव होते हुए भी नख और रोमों (केशों) का समान रहना (न बढ़ना न घटना) और ११. अठारह महाभाषायें, सात सौ क्षुद्रभाषायें तथा संज्ञी जीवों की जो समस्त अन्य अक्षरात्मक-अनक्षरात्मक भाषायें हैं उनमें एक साथ (बिना कण्ठ-तालु आदि के व्यापार के) दिव्यध्वनि का खिरना।

**(स) देवकृत १३ अतिशय** (तीर्थङ्करों के माहात्म्य से देवों के द्वारा किए गए अतिशय)– १. संख्यात योजन तक वन का असमय में भी पत्र, फूल और फलों की वृद्धि से युक्त रहना, २. कंटक और रेत आदि से रहित सुखदायक वायु का

बहना, ३. पूर्व-वैरभाव को छोड़कर जीवों का मैत्रीभाव से रहना, ४. दर्पणतल के समान भूमि का स्वच्छ और रत्नमय हो जाना, ५. सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से मेघकुमार देवों के द्वारा सुगन्धित जल की वृष्टि करना, ६. फलों के भार से शालि, जौ आदि का नम्रीभूत होना, ७. सब जीवों का नित्य आनन्दित होना, ८. शीतल वायु का बहना, ९. कूप, तालाब आदि का निर्मल जल से पूर्ण होना, १०. धुआँ, उल्कापातादि से रहित होकर आकाश का निर्मल होना, ११. सभी जीवों को रोगादि की बाधायें न होना, १२. चार दिव्यधर्मचक्रों का होना और १३. चारों दिशाओं और विदिशाओं में छप्पन स्वर्णकमल, एक पादपीठ और दिव्य विविध पूजन-द्रव्यों का होना। इन अतिशयों के द्वारा इन्द्रादि देव संख्यात योजन तक तीर्थङ्कर के चारों ओर का वातावरण मंगलमय बना देते हैं।

## अन्य अनन्त अतिशय और अर्हन्त के लिए स्थावर-प्रतिमा का प्रयोग

श्रीवृक्ष, शंख आदि एक हजार आठ लक्षणों[1] और चौंतीस अतिशयों से युक्त जिनेन्द्र भगवान् जब तक विहार करते हैं तब तक उन्हें 'स्थावर-प्रतिमा' कहते हैं।[2] भगवान् के १००८ बाह्य लक्षणों को उपलक्षण मानकर उनमें सत्त्वादि अन्तरङ्ग लक्षणों से अनन्त अतिशय माने जा सकते हैं।[3]

## अर्हन्त की अन्य विशेषतायें

अर्हन्त की अनेक विशेषताओं में से कुछ विशेषतायें निम्न हैं–

१. महापुराण २५/१००–२१७; १५/३७–४४, जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग१, पृ० १३८.

२. विहरदि जाव जिणिंदो सहसट्ठ सुलक्खणेहिं संजुत्तो।
चउतीस अइसयजुदो सा पडिया थावरा भणिया ।। –दर्शनपाहुड ३५.

नोट- स्थावरप्रतिमा और जङ्गम-प्रतिमा ये दो भेद हैं। स्थावर (स्था– वरच्) का अर्थ है 'अचल' और जङ्गम (गम् + यङ् + अच्) का अर्थ है 'सचल या सजीव'। यहाँ अर्हन्त को स्थावर-प्रतिमा कहने का तात्पर्य मेरी दृष्टि से है उनका अबुद्धिपूर्वक स्वाभाविक तथा कमलासन पर स्थित रहते हुए चरणक्रमरहित विहार माना जाना है। विशेष के लिए देखें, बोधपाहुड ११–१२ तथा दर्शनपाहुड ३५ की टीकाएँ। (तथा देखें, अर्हन्त की विहारचर्या)।

३. यथा निशीचूर्णौ भगवतां श्रीमदर्हतामष्टोत्तरसहस्र-संख्या बाह्यलक्षणसंख्याया उपलक्षणत्वेनान्तरङ्गलक्षणानां सत्त्वादीनामानन्त्यमुक्तम्। एवमतिशयानामधिकृतपरिगण-नायोगेऽप्यपरितत्त्वमविरुद्धम्। –स्याद्वादमञ्जरी, १/८/४



**१. अठारह दोषों का अभाव[1]**– अर्हन्त भगवान् में १. क्षुधा, २. तृषा, ३. भय, ४. रोष (क्रोध), ५. राग, ६. मोह, ७. चिन्ता, ८. जरा, ९. रोग, १०. मृत्यु, ११. स्वेद (पसीना), १२. खेद, १३. मद, १४. रति, १५. विस्मय, १६. निद्रा, १७. जन्म और १८. उद्वेग (अरति)— इन अठारह दोषों का अभाव होता है।

**२. परमौदारिक शरीर होने से कवलाहार और क्षुधादि परिषहों का अभाव**– परमौदारिक शरीर होने से भगवान् न तो कवलाहार करते हैं और न उन्हें क्षुधादि परिषह होते हैं।[2] मनुष्य का शरीर औदारिक कहलाता हैं। अर्हन्त मानुषी प्रकृति को अतिकान्त करके देवाधिदेव हो जाते हैं। उनका साधारण औदारिक शरीर नहीं होता है, अपितु केवलज्ञान होते ही परमौदारिक शरीर हो जाता है। आकार ज्यों का त्यों बना रहता है परन्तु परमाणु-वर्गणाएँ बदलकर विशुद्ध हो जाती हैं। हड्डी आदि के भी परमाणु बदल जाते हैं। भूख-प्यास आदि नहीं रहती। देवों और नारकियों के वैक्रियिक शरीर की तरह उनके शरीर पर कोई अस्त्रादि का प्रभाव भी नहीं पड़ता। दोषों का विनाश हो जाने से शुद्ध स्फटिक की तरह सात धातुओं से रहित तेजोमय शरीर हो जाता है। अतएव वे न तो कवलाहार (मुख से भोजन) करते हैं और न उन्हें क्षुधादि परिषह सताते हैं। शरीर में कोई मैल न होने से उनके नख (हड्डी का मैल) और केश (रक्त का मैल) नहीं बढ़ते हैं। पूर्वशरीर के नख और केश पूर्ववत् बने रहते हैं। हाड़-मांस से रहित अर्हन्त का परम-औदारिक शरीर आयुपूर्ण होने पर कपूर की तरह उड़ जाता है, परन्तु उसके पूर्वशरीर के नख और केश बच जाते हैं जिन्हें इन्द्र निर्जीव होने से क्षीरसागर में डालते हैं। इसके अतिरिक्त उनके कार्मण और तैजस् शरीर भी, जिनका कर्मों के सद्भाव से अनादि-सम्बन्ध था, वे दोनों भी समस्त कर्मों का अभाव होने पर समाप्त हो जाते हैं। आहार न करने से मल-मूत्रादि भी नहीं होते

१. देखें, पृ. ५, टि. ३

२. केवलिनां भुक्तिरस्ति, औदारिकशरीरसद्भावात्।...... अस्मदादिवत्। परिहारमाह—
तद्भगवतः शरीरमौदारिकं न भवति किन्तु परमौदारिकम्- शुद्धस्फटिकसकाशं तेजोमूर्तिमयं वपुः। जायते क्षीणदोषस्य सप्तधातुविवर्जितम्। –प्र०सा०, ता०वृ०, २०/२८/७
मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान् देवतास्वपि देवतः यतः।
तेन नाथ ! परमासि देवता श्रेयसे जिनवृष ! प्रसीद नः।। –स्वयम्भूस्तोत्र ७५.

हैं। अर्हन्तों के जो ग्यारह परिषह कहे गए हैं वे उपचार से कहे गए हैं तथा उपचार का कारण है 'असातावेदनीय का उदय'। मोहनीय और अन्तराय कर्म के नष्ट हो जाने से असातावेदनीय निष्क्रिय है तथा वह सातारूप परिणमन कर जाता है।[१] अर्हन्त के कवलाहार तो नहीं है, परन्तु नोकर्माहार होता है। अतः आहारक मार्गणा में 'आहार' शब्द से नोकर्माहार ही ग्रहण करना चाहिए, कवलाहार नहीं। किन्तु समुद्घात अवस्था में नोकर्माहार भी नहीं होता है।[२]

**३. अर्हन्तों में इन्द्रिय, मन, ध्यान, लेश्या आदि का विचार —** पञ्चेन्द्रियजाति नामकर्म के उदय से अर्हन्तों के पाँच द्रव्येन्द्रियाँ मानी गई हैं, भावेन्द्रियाँ नहीं, क्योंकि भावेन्द्रियों की विवक्षा होने पर ज्ञानावरण का सद्भाव मानना पड़ेगा और तब उनमें सर्वज्ञता न बन सकेगी। अतः अर्हन्तों के द्रव्येन्द्रियों की अपेक्षा पञ्चेन्द्रियत्व तो है, परन्तु भावेन्द्रियों की अपेक्षा नहीं है। वस्तुतः उन्हें पञ्चेन्द्रिय कहना औपचारिक प्रयोग है।[३] इसी प्रकार अर्हन्त केवली के 'मन' भी उपचार से कहा गया है क्योंकि उनमें द्रव्यमन तो है, भावमन नहीं है।[१] द्रव्यमन सहित होते हुए भी केवली को 'संज्ञी' नहीं माना गया है, क्योंकि मन के आलम्बन से उनके बाह्य पदार्थों का ग्रहण नहीं होता है।[२] प्राणों की अपेक्षा सयोग केवली के चार अथवा दो प्राण माने गए हैं, द्रव्येन्द्रियों की अपेक्षा दश प्राण नहीं हैं। अयोग केवली के केवल 'आयु' प्राण होता है।[३] केवली के शुक्ल लेश्या। उपयोग तथा ध्यान भी औपचारिक ही है।[४] केवली के इच्छा का अभाव होने से उनकी विहार, धर्मदेशना आदि में अबुद्धिपूर्वक स्वाभाविक प्रवर्तना मानी गई है।[५]

**४. केवली समुद्घात क्रिया –** कर्मों की स्थिति (ठहरने की काल-सीमा) और अनुभागबन्ध (रसपरिपाक) को घातने के लिए किया गया समीचीन उपक्रम 'केवली समुद्घात' है। जब आयु कर्म की अपेक्षा अन्य तीन अघातिया कर्मों की स्थिति

---

१. (क) चउविह उवसग्गेहिं णिच्चविमुक्को कसायपरिहीणो।
छुहपहुदिपरिसहेहिं परिचत्तो रायदोसेहिं।। –ति०प० १/५९.

(ख) मोहनीयोदयसहायाभावात्क्षुदादिवेदनाभावे परिषहव्यपदेशो न युक्तः। सत्यमेवमेतत् वेदनाभावेऽपि द्रव्यकर्मसद्भावापेक्षया परिषहोपचारः क्रियते।
—सर्वार्थसिद्धिः ९/११/४२९/८

णट्ठा य रायदोसा, इंदियणाणं च केवलिम्हि जदो।
तेण दु सादासादजसुहदुक्खं णत्थि इंदियजं।। –गो०कर्म० २७३.
समयट्ठिदिगो बंधो सादस्सुदयप्पिगो जदो तस्स।
तेण असादस्सुदओ सादसरूवेण परिणदि।। –गो.कर्म० २७४.

२. (क) पडिसमयं दिव्वतमं जोगी णोकम्मदेहपडिबद्धं।
समयपबद्धं बंधदि गलिदवसेसाउमेत्तट्ठिदी ।। –क्षपणा० ६१८

अत्र कवललेपोष्ममनः कर्माहारान् परित्यज्य नोकर्माहारो ग्राह्यः, अन्यथाहारकालविरहाभ्यां सह विरोधात्। –ध०१/१.१.१७३/४०९/१०

(ख) अणाहारा .......... केवलीणं वा समुग्घादगदाणं अजोगिकेवली ..........चेति।
–षट्खण्डागम, १/१.१.१७७/४१०

कम्मग्गहणमत्थित्तं पडुच्च आहारित्तं किण्ण उच्चदि त्ति भणिदे ण उच्चदि, आहारस्स तिण्णिसमयविरहकालोवलद्धीदो। –ध० २/१.१/६६९/५.

णवरि समुग्घादगदे पदरे तह लोगपूरणे पदरे।
णत्थि ति समये णियमा णोकम्माहारयं तत्थ ।। –क्षपणा० ६१९

३. पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्मोदयात्पञ्चेन्द्रियः। –ध०१/१.१.३९/२६४/२

आर्षे हि सयोगिकेवलिनोः पञ्चेन्द्रियत्वं द्रव्येन्द्रियं प्रति उक्तं, न भावेन्द्रियं प्रति। यदि हि भावेन्द्रियमभविष्यत्, अपितु तर्हि असंक्षीणसकलावरणत्वात् सर्वज्ञतैवास्य न्यवर्तिष्यत्।
–राजवार्तिक, १/३०/९/९१/१४.

केवलिनां पञ्चेन्द्रियत्वं ............ भूतपूर्वगतिन्यायसमाश्रयणाद्वा।
–ध० १/१.१.३७/२६३/५.

१. अतीन्द्रियज्ञानत्वान्न केवलिनो मन इति चेन्न, द्रव्यमनसः सत्त्वात्।
–ध० १/१.१.५०/२८६.

उपचारतस्तयोस्ततः समुत्पत्तिविधानात्। –ध० १/१.१.५०/२८७.

मणसहियाणं वयणं दिट्ठं तत्पुव्वमिदि सजोगम्हि।
उत्तो मणोवयारेणिंदियणाणेण हीणम्मि।। –गो०जीव० २२८.

२. तेषां क्षीणावरणानां मनोऽवष्टम्भबलेन बाह्यार्थग्रहणाभावतस्तदसत्वात्। तर्हि भवन्तु केवलिनोऽसंज्ञिन इति चेन्न, साक्षात्कृताशेषपदार्थानामसंज्ञित्वविरोधात्। –ध०, १/१.१.१७३/४०८

३. तम्हा सजोगिकेवलिस्स चत्तारि पाणा दो पाणा वा। –ध० २/१.१/४४४/६.
आउअ-पाणो एक्को चेव। –ध० २/१.१/४४५/१०

तथा देखिए, पर्याप्ति आदि के लिए, जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग २, पृ० १६४.

४. स०सि०, २/६/१६०/१; रा०वा० २/६/८/१०९/२९; रा०वा०, २/१०/५/१२५/८; रा०वा०, २/१०/५/१२५/१०; ध०, १/१.१.१२४/३७४/३; प्र०सा० १९७, १९८,

५. जाणंतो पस्संतो ईहापुव्वं ण होइ केवलिणो । –नियमसार १७२.
तथा केवलिनां स्थानादयोऽबुद्धिपूर्वका एव दृश्यन्ते। –प्र०सा०, ता०वृ० ४४.

अधिक होती है तब केवली आयु कर्म की स्थिति और शेष तीन अघातिया कर्मों की स्थिति को बराबर करने के लिए समुद्घात करते हैं। समुद्घात में मूल शरीर को न छोड़कर मात्र तैजस् और कार्मणरूप शरीर के साथ जीवप्रदेश शरीर से बाहर निकलते हैं पश्चात् मूलशरीर में उन जीवप्रदेशों का पुनः समावेश होता है।[१]

५. **दिव्यध्वनि का खिरना**— केवलज्ञान होने के पश्चात् अर्हन्त भगवान् के सर्वाङ्ग से जो ओंकाररूप ध्वनि खिरती है उसे 'दिव्यध्वनि' कहते हैं। यह गणधर की उपस्थिति में ही खिरती है, अनुपस्थिति में नहीं। भगवान् में इच्छा का अभाव होते हुए भी यह दिव्यध्वनि भव्य जीवों के पुण्य के प्रभाव से खिरती है। यह दिव्यध्वनि मुख से ही खिरती है या मुख के बिना खिरती है, ? भाषात्मक है या अभाषात्मक है? आदि के सम्बन्ध में जो आपेक्षिक कथन मिलते हैं उनका नय की अपेक्षा से समाधान कर लेना चाहिए।[२]

६. **मृत शरीर-सम्बन्धी दो धारणाएँ तथा शरीर-मुक्त आत्मा की स्थिति**— आयु की पूर्णता होने पर मृतशरीर-सम्बन्धी दो मत पुराणों में मिलते हैं जिनका स्वविवेक से समाधान अपेक्षित है।[३] इतना निश्चित है कि लोकाकाश की समाप्ति तक मुक्तात्मा का ऊर्ध्वगमन होता है तथा मुक्तात्मा के प्रदेश न तो अणुरूप होते हैं और न सर्वव्यापक अपितु चरमशरीर से कुछ कम प्रदेश होते हैं।[४]

७. **विहारचर्या**[५]— केवली में इच्छा का अभाव होने से उनका विहार अबुद्धिपूर्वक स्वाभाविक माना गया है। सम्पूर्ण केवलज्ञान-काल में वे एक आसन

---

१. जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग २, पृ. १६६-१६९.

२. वही, पृ० ४३०—४३३.

३. **अर्हन्त के मृतशरीर-सम्बन्धी दो पौराणिक मत**— हरिवंश पुराण में आया है— 'दिव्य गन्ध, पुष्प आदि से पूजित तीर्थङ्कर आदि के मोक्षगामी जीवों के शरीर क्षणभर में बिजली की तरह आकाश को दैदीप्यमान करते हुए विलीन हो जाते हैं। (२) महापुराण (४७.३४३—३५०) में भगवान् ऋषभदेव के मोक्षकल्याणक के अवसर पर अग्निकुमार देवों ने भगवान् के पवित्र शरीर को पालकी में विराजमान किया। पश्चात् अपने मुकुटों से उत्पन्न की गई अग्नि को अगरु, कपूर आदि सुगन्धित द्रव्यों से बढ़ाकर उसमें भगवान् के शरीर को समर्पित कर उसे दूसरी पर्याय प्राप्त करा दी। ............ तदनन्तर भगवान् के शरीर की भस्म को उठाकर अपने मस्तक पर, भुजाओं पर, कण्ठ में तथा हृदयदेश में भक्तिपूर्वक स्पर्श कराया।

४. जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग ३, पृ० ३२८, तथा देखें, सिद्धों का प्रकरण।

५. जिनसहस्रनाम (ज्ञानपीठ प्रकाशन) पृ० १६७, १८३.



पर स्थित रहते हुए विहार, उपदेश आदि करते हैं। जिस एक हजार पांखुड़ी वाले स्वर्णकमल पर चार अंगुल ऊपर स्थित रहते हैं, वही कमलासन या पद्मासन है। वस्तुतः अर्हन्त भगवान् का गमन चरणक्रम-संचार से रहित होता है।[१] पैरों के नीचे कमलों की रचना देवकृत अतिशय है। स्तोत्र एवं भक्ति ग्रन्थों में इसी अतिशय का वर्णन मिलता है; जैसे—

हे जिनेन्द्र! आप जहाँ जहाँ अपने दोनों चरण रखते हैं वहाँ वहाँ ही देवगण कमलों की रचना कर देते हैं।[२]

## सिद्ध (विदेहमुक्त)

### सिद्धावस्था की प्राप्ति कब ?

चारों घातिया कर्मों के निर्मूल (पूर्णतः नष्ट) होने पर शुद्धात्मा की उपलब्धिरूप (निश्चय-रत्नत्रयात्मक) जीवपरिणाम को 'भावमोक्ष' कहते हैं। जीवन्मुक्त अर्हन्त या भावमोक्ष-अवस्था को धारण करते हैं। भावमोक्ष के निमित्त से शेष चार अघातिया कर्मों के भी समूल नष्ट हो जाने पर (जीव से समस्त कर्म के निरवशेष रूप से पृथक् हो जाने पर) 'द्रव्यमोक्ष' होता है। यह द्रव्यमोक्ष की अवस्था ही 'सिद्धावस्था' है।[३] आयु के अन्त समय में अर्हन्तों का परमौदारिक शरीर जब कपूर की तरह उड़ जाता है तथा आत्मप्रदेश ऊर्ध्वगति-स्वभाव के कारण लोकशिखर पर जा विराजते हैं, तभी सिद्धावस्था कहलाती है।

### सिद्धों के सुखादि

सिद्ध अनन्तकाल तक अनन्त अतीन्द्रिय सुख में लीन रहते हैं। ज्ञान ही उनका शरीर होता है। वे न तो निर्गुण हैं और न शून्य। न अणुरूप हैं और न सर्वव्यापक, अपितु आत्मप्रदेशों की अपेक्षा चरम-शरीर (अर्हन्तावस्था का शरीर) के आकाररूप में रहते हुए जन्म-मरण के भवचक्र से हमेशा के लिए मुक्त हो

---

१. प्रचारः प्रकृष्टोऽन्यजनासंभवो चरणक्रमसंचाररहितश्चारो गमनं तेन विजृम्भितौ विलसितौ शोभितौ। —चैत्यभक्ति, टीका, १.

२. पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र धत्तः, पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति।। —भक्तामरस्तोत्र ३६ तथा देखिए, स्वयम्भूस्तोत्र १०८, हरिवंशपुराण, ३/२४, एकीभावस्तोत्र ७.

३. कर्मनिर्मूलनसमर्थः शुद्धात्मोपलब्धिरूपजीवपरिणामो भावमोक्षः, भावमोक्षनिमित्तेन जीव-कर्मप्रदेशानां निरवशेषः पृथग्भावो द्रव्यमोक्ष इति। —पं०का०, ता०वृ० १०८/१७३/१०; भ०आ० ३८/१३४/१८; नयचक्र बृहत् १५९.

जाते हैं। सिद्धत्व जीव का स्वाभाविकभाव है। जितने जीव सिद्ध होते हैं उतने ही जीव निगोदराशि से निकलकर व्यवहारराशि में आ जाते हैं जिससे लोक कभी भी जीवों से रिक्त नहीं होता है।[१]

**चैतन्यमात्र ज्ञानशरीरी**– सिद्ध न तो चैतन्यमात्र हैं और न जड़, अपितु ज्ञानशरीरी (सर्वज्ञ) हैं[२]। सकल कर्मों का क्षय हो जाने पर आत्मा न तो न्यायदर्शन की तरह (ज्ञानभिन्न) जड़ होता है और न सांख्यदर्शन की तरह चैतन्यमात्र, अपितु आत्मा के ज्ञानस्वरूप होने से वह 'ज्ञानशरीरी' (सर्वज्ञ) हो जाता है तथा ज्ञान के अविनाभावी सुखादि अनन्तचतुष्टय से सम्पन्न हो जाता है।

## सिद्धों का स्वरूप

सिद्धों के स्वरूप के सम्बन्ध में निम्न तीन उद्धरण द्रष्टव्य हैं—

१. 'जो आठों प्रकार के कर्मों के बन्धन से रहित, आठ महागुणों से सुशोभित, परमोत्कृष्ट, लोकाग्र में स्थित और नित्य हैं, वे सिद्ध हैं।[३]

२. 'जो आठ प्रकार के कर्मों से रहित, अत्यन्त शान्तिमय, निरञ्जन, नित्य, आठ गुणों से युक्त, कृतकृत्य तथा लोकाग्र में निवास करते हैं, वे सिद्ध हैं। यहाँ जन्म, जरा, मरण, भय, संयोग, वियोग, दुःख, रोग आदि नहीं होते।'[४]

३. 'जो आठ कर्मों के हन्ता, त्रिभुवन के मस्तक के भूषण, दुःखों से रहित, सुखसागर में निमग्न, निरञ्जन, नित्य, आठ गुणों से युक्त, निर्दोष, कृतकृत्य, सर्वाङ्ग से समस्त पर्यायों सहित समस्त पदार्थों के ज्ञाता, वज्रशिलानिर्मित

---

१. मुक्तिंगतेषु तावन्तो जीवा नित्यनिगोदभवं त्यक्त्वा चतुर्गतिभवं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः।
–गो०जी०, जी०प्र०/१९७/४४१/१५, तथा देखिए, पृ० २३, टि० ३

२. सकलविप्रमुक्तः सन्नात्मा समग्रविद्यात्मवपुर्भवति न जडो, नापि चैतन्यमात्ररूपः।
–स्वयम्भूस्तोत्र, टीका ५/१३.

३. णट्ठट्ठकम्मबंधा अट्ठमहागुणसमण्णिया परमा।
लोयग्गठिदा णिच्चा सिद्धा ते एरिसा होंति।। –नि०सा० ७२.

४. अट्ठविहकम्मवियडा सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा।
अट्ठगुणा कयकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा।। –गो०जी० ६८
तथा देखिए, पं०सं०,प्रा० ३१
जाइ-जरा-मरणभया संजोय-विओयदुक्खसण्णाओ।
रोगादिया य जिस्से ण होंति सा होइ सिद्धगई।। –पं०सं०,प्रा०,६४



अभग्न-प्रतिमा के समान अभेद्य आकार से युक्त तथा सब अवयवों से पुरुषाकार होने पर भी गुणों में पुरुष के समान नहीं हैं, क्योंकि पुरुष सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों को भिन्न देश से जानता है, परन्तु जो प्रतिप्रदेश से सब विषयों को जानते हैं, वे सिद्ध हैं'।[१]

## सिद्धों के प्रसिद्ध आठ गुण

ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के अभाव से सभी सिद्धों में निम्न आठ गुण प्रकट हो जाते हैं। इनमें प्रथम चार गुण (जीव के अनुजीवी गुण) घातिया कर्मों के अभाव से पहले ही जीवन्मुक्त अवस्था में प्रकट हो जाते हैं तथा शेष चार गुण (जीव के निज गुण) अघातिया कर्मों के नष्ट होने पर प्रकट होते हैं। जैसे– १. क्षायिक सम्यक्त्व (मोहनीय कर्म-क्षयजन्य), २. अनन्तज्ञान (ज्ञानावरणीय कर्मक्षयजन्य), ३. अनन्तदर्शन (दर्शनावरणीय कर्मक्षयजन्य), ४. अनन्तवीर्य (अन्तरायकर्म-क्षयजन्य), ५. सूक्ष्मत्व (अमूर्तत्व = अशरीरत्व; नामकर्म से प्रच्छादित गुण), ६. अवगाहनत्व (जन्म-मरणरहितता; आयुकर्म-क्षयजन्यगुण), ७. अगुरुलघुत्व (अगुरुलघुसंज्ञक गुण जो नामकर्म के उदय से ढका रहता है या गोत्रकर्म-क्षयजन्य ऊँच-नीचरहितता) और ८. अव्याबाधत्व (वेदनीयकर्म-क्षयजन्य अनन्त सुख= इन्द्रियजन्य सुख-दुःखाभाव)।[२] यहाँ इतना विशेष है कि एक-एक कर्मक्षय-जन्यगुण का यह कथन प्रधानता की दृष्टि से है, क्योंकि अन्यकर्मों का क्षय भी आवश्यक है। वस्तुतः आठों ही कर्म समुदायरूप से एक सुख गुण के विपक्षी हैं, कोई एक पृथक् गुण उसका विपक्षी नहीं है।[३] सुख का हेतु स्वभाव-प्रतिघात

---

१. णिहयविविहट्ठकम्मा तिहुवणसिरसेहरा विहुवदुक्खा।
सुहसायरमज्झगया णिरंजणा णिच्च अट्ठगुणा।।२६
अणवज्जा कयकज्जा सव्वावयवेहि दिट्ठसव्वट्ठा।
वज्जसिलत्थब्भग्गय पडिमं बाभेज्ज संठाणा।।२७
माणुससंठाणा वि हु सव्वावयवेहि णो गुणेहि समा।
सव्विंदियाण विसयं जमेगदेसे विजाणंति।।२८
–ध०१/१.१.१/२६-२८.

२. सम्मत्त-णाण-दंसण-वीरिय-सुहुमं तहेव अवगहणं।
अगुरुलघुमव्वावाहं अट्ठगुणा होंति सिद्धाणं।। –लघु सिद्धभक्ति ८
तथा देखिए— वसुनंदि श्रावकाचार ५३७, पंचाध्यायी/उ० ६१७-६१८, परमात्मप्रकाश टीका १/६१/६२/१

३. कर्माष्टकं विपक्षि स्यात् सुखस्यैकगुणस्य च।
अस्ति किंचिन्न कर्मैकं तद्विपक्षं ततः पृथक्।। –पं०अ०, उ० १११४

का अभाव है।[१] अभेद-दृष्टि से जो केवलज्ञान है, वही सुख है और परिणाम भी वही है। उसे दुःख नहीं है क्योंकि उसके घातिया कर्म नष्ट हो गए हैं।[२]

## प्रकारान्तर से सिद्धों के अन्य अनन्त गुण

द्रव्यसंग्रह की ब्रह्मदेवरचित संस्कृत टीका में कहा है कि सम्यक्त्वादि सिद्धों के आठों गुण मध्यमरुचि वाले शिष्यों के लिए हैं। विशेषभेदनय के आलम्बन से गतिरहितता, इन्द्रियरहितता, शरीररहितता, योगरहितता, वेदरहितता, कषायरहितता, नामरहितता, गोत्ररहितता, आयुःरहितता आदि निषेधपरक विशेष गुण तथा अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व आदि विधिपरक सामान्यगुण आगम के अविरोध से अनन्त गुण जानना चाहिए।[३] वस्तुतः संसार में कर्मोदय से अनन्त अवगुण होते हैं और जब कर्मोदय नहीं रहता तो उनका अभाव ही अनंतगुणपना है। भगवती आराधना आदि में अकषायत्व, अवेदत्व, अकारत्व, देहराहित्य, अचलत्व और अलेपत्व ये सिद्धों के आत्यन्तिक गुण कहें हैं।[४]

धवला में आया है कि सिद्धों के क्षायिक सम्यक्त्व, ज्ञान और दर्शन (अन्तरायाभावजन्य अनन्तवीर्य को छोड़कर तीन) गुणों में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा चार गुणा करने पर बारह गुण होते हैं।[५]

अन्तरायाभाव को गुणरूप न मानकर लब्धिरूप माना गया है। अतः ऊपर तीन क्षायिक गुण लिए हैं। अन्तराय कर्म के अभाव में अनन्तवीर्य के स्थान पर धवला में क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिक-उपभोग और क्षायिकवीर्य ये पाँच क्षायिकलब्धिरूप गुणों का उल्लेख भी मिलता है।[६]

---

१. स्वभावप्रतिघाताभावहेतुकं हि सौख्यम्।, –प्र०सा०/त०प्र०/६१.

२. जं केवलं ति णाणं तं सोक्खं परिणामं च सो चेव।
खेदो तस्स ण भणिदो जम्हा घादी खयं जादा।। –प्र०सा० ६०.

३. इति मध्यमरुचिशिष्यापेक्षया .......... स्वागमविरोधेनानन्ता ज्ञातव्या।
–द्र०सं०, टीका १४/४३/६

४. अकसायमवेदत्तमकारकदाविदेहदा चेव।
अचलत्तमलेपत्तं च हुंति अच्चंतियाइं से।। –भ०आ० २१५७
तथा देखिए, ध० १३/५.४.२६ गा० ३१/७०.

५. द्रव्यतः क्षेत्रतश्चैव कालतो भावतस्तथा।
सिद्धाग्रगुणसंयुक्ता गुणाः द्वादशधा स्मृताः।। –ध० १३/५.४.२६/गा० ३०/६९

६. धवला, ७/२.१.७ गा० ४-११/१४-१५.



## सिद्धों में औपशमिकादि भावों का अभाव

क्षायिक भावों में केवल सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और सिद्धत्व भावों को छोड़कर सिद्धों में औपशमिकभाव, क्षायोपशमिकभाव, औदयिकभाव तथा भव्यत्व नामक पारिणामिक भावों का अभाव होता है।[१] सिद्धों में सभी कर्मों का अभाव (क्षय) होने से औपशमिकादि भावों का प्रश्न ही नहीं होता, क्योंकि वे तो कर्मों के सद्भाव में ही सम्भव हैं।[२] पारिणामिक भावों में भी अभव्यत्व भाव का पहले से अभाव रहता है क्योंकि सिद्ध होनेवाले में भव्यत्वभाव रहता है, अभव्यत्व नहीं। सिद्ध हो जाने के बाद भव्यत्व (भवितुं योग्यः भव्यः-भविष्य में सिद्ध होने की योग्यता) भाव का भी अभाव हो जाता है। पारिणामिक भावों में अब बचा केवल जीवत्व भाव जो सदा रहता है। यहाँ इतना विशेष है कि सिद्धों में जीवत्वभाव दशप्राणों की अपेक्षा से नहीं है, अपितु ज्ञान-दर्शन की अपेक्षा शुद्ध जीवत्व भाव है, क्योंकि सिद्धों में कर्मजन्य दशप्राण नहीं होते हैं।

## संयतादि तथा जीवत्व आदि

क्षायोपशमिकादि भावों से जन्य इन्द्रियादि का अभाव होने से इन्द्रियव्यापारजन्य ज्ञान-सुखादि भी नहीं रहता।[३] अतएव वे न संयत हैं, न असंयत, न संयतासंयत, न संज्ञी और न असंज्ञी।[४] सिद्धों में दस प्राणों का अभाव होने से वे 'जीव' भी नहीं हैं, उन्हें उपचार से 'जीव' या 'जीवितपूर्व' कहा जा सकता है[५]। इस सन्दर्भ में

---

१. औपशमिकादिभव्यत्वानां च। अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः।
–त०सू० १०/३-४; तथा वही सवार्थसिद्धि टीका।

२. न च क्षीणाशेषकर्मसु सिद्धेषु क्षयोपशमोऽस्ति तस्य क्षायिकभावेनापसारितत्त्वात्।
–ध० १/१.१.३३/२४८/११

३. ण वि इंदियकरणजुदा अवग्गहादीहिगाहिया अत्थे।
णेव य इंदियसोक्खा अणिंदियाणंत-णाणसुहा।।
–ध० १/१.१.३३/गा० १४०/२४८

४. सिद्धानां कः संयमो भवतीति चेन्नैकोऽपि। यथा बुद्धिपूर्वकनिवृत्तेरभावान्न संयतास्तत एव न संयतासंयताः, नाप्यसंयताः प्रणष्टाशेषपापक्रियायाः। –ध० १/१.१.१३०/३७८/८.

५. तं च अजोगिचरमसमयादो उवरि णत्थि, सिद्धेषु पाणणिबंधणट्ठकम्माभावादो। तम्हा सिद्धा ण जीवा जीविदपुव्वा इदि। सिद्धाणं पि जीवत्तं किण्ण इच्छज्जदे। ण, उवयारस्स सच्चताभावादो। सिद्धेषु पाणाभावण्णहाणुववत्तीदो जीवत्तं ण पारिणामियं किंतु कम्मविवागजं।
–ध. १४/५.६.१६/१३/३

राजवार्तिककार भावप्राणरूप ज्ञानदर्शनादि की अपेक्षा तथा रूढि की अपेक्षा सिद्धों में मुख्यजीवत्व नामक पारिणामिक भाव ही स्वीकार करते हैं।[1]

## सिद्धों की अवगाहना आदि

आत्म-प्रदेशों में व्याप्त होकर रहने का नाम है 'अवगाहना' अर्थात् ऊंचाई-लम्बाई आदि आकार। सिद्धों की अवगाहना चरमशरीर से कुछ कम होती है। चरमशरीर की अवगाहना तीन प्रकार की सम्भव है– जघन्य, उत्कृष्ट और मध्यम। जघन्य अवगाहना कुछ कम साढ़े तीन अरत्नि, उत्कृष्ट अवगाहना ५२५ धनुष तथा मध्यम अवगाहना दोनों के मध्य की होने से अनेक भेद वाली है।[2] नामकर्म के अभाव से शरीर के अनुसार होने वाला आत्मप्रदेशों का संकोच-विस्तार नहीं होता है। अतः सिद्ध न अभावरूप हैं, न अणुरूप और न सर्वलोकव्यापी। शरीर न होने से शरीरकृत बाह्यप्रदेशों को कम करके पूर्वशरीर (चरमशरीर) से कुछ कम व्यापक सिद्धात्माओं को माना गया है।[3] सिद्ध जीव

१. तथा सति सिद्धानामपि जीवत्वं सिद्धं जीवितपूर्वत्वात्। सम्प्रति न जीवन्ति सिद्धा भूतपूर्वगत्या जीवत्वमेषामौपचारिकत्वं मुख्यं चेष्यते, नैष दोषः, भावप्राणज्ञानदर्शनानुभवनात्, साम्प्रतिकमपि जीवत्वमस्ति। अथवा रूढिशब्दोऽयम्। रूढो वा क्रिया व्युत्पत्त्यर्थे वेति कादाचित्कं जीवनमपेक्ष्यं सर्वदा वर्तते गोशब्दवत्। –रा॰वा॰ १/४/७/२५/२७.

२. आत्मप्रदेशव्यापित्वमवगाहनम्। तद्द्विविधम् उत्कृष्टजघन्यभेदात्। तत्रोत्कृष्टं पञ्चधनुः-शतानि पञ्चविंशत्युत्तराणि। जघन्यमर्धचतुर्थारत्नयो देशोनाः। मध्ये विकल्पाः। एकस्मिन्नवगाहे सिद्ध्यति। –स०सि० १०.९/४७३/११ तथा देखिए, –रा॰वा॰ १०.९/१०/६४७/१५

एकस्मिन्नवगाहे सिद्ध्यन्ति पूर्वभावप्रज्ञापन-नयापेक्षया। प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापने तु एतस्मिन्नेव देशोने। –रा॰वा॰ १०.९/१०/६४७/१९

किंचूणा चरम–देहदो सिद्धा।..... तत् किञ्चिदूनत्वं शरीराङ्गोपाङ्गजनितनासिकादिछिद्राणा-मपूर्णत्वे सति०। –द्रव्यसंग्रह, टीका १४/४४/२

३. वही,

स्यान्मतं, यदि शरीरानुविधायी जीवः तदभावात्स्वाभाविकलोकाकाश प्रदेशपरिमाणत्वात्ता-वद्विसर्पणं प्राप्नोतीति। नैषदोषः। कुतः? कारणाभावात्। नामकर्मसम्बन्धो हि संहरणविसर्पणकारणम् । तदभावात्पुनःसंहरणविसर्पणाभावः।

–स०सि० १०.४/४६९/२

तथा देखिए, राजवार्तिक १०/४/१२-१३/६४३/२७

अनाकारत्वान्मुक्तानामभाव इति चेन्न, अतीतानन्तशरीराकारत्वात्। –स०सि० १०/४/४६८/१३.



पुरुषाकार छायावत् अथवा मोमरहितमूषक के आकार की तरह होते हैं तथा लोक के शिखर पर स्थित होते हैं। मनुष्यलोकप्रमाण तनुवात के उपरिम भाग में सभी सिद्धों के सिर एक सदृश होते हैं, परन्तु अधस्तन भाग में अवगाहना के हीनाधिक सम्भव होने से विसदृश भी होते हैं।[1] एक ही क्षेत्र में कई सिद्ध रह सकते हैं, क्योंकि वे अरूपी हैं, सूक्ष्म हैं। अतएव वे किसी को रोकते भी नहीं हैं। सिद्धात्मा निश्चयनय से अपने में ही रहते हैं।[2]

## संसार में पुनरागमन आदि का अभाव

जिस प्रकार बीज के पूर्णतया जल जाने पर उसमें पुनः अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार कर्मरूपी बीज के दग्ध हो जाने पर संसाररूपी अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता। जगत् के प्रति करुणा आदि भी नहीं होती, क्योंकि वे वीतरागी हैं। गुरुत्व आदि न होने से उनके पतन की भी कोई सम्भावाना नहीं हैं।[3]

१. जावद्धम्मं दव्वं तावं गंतूण लोयसिहरम्मि।
चेट्ठन्ति सव्वसिद्धा पुह पुह गयसित्थमूसगब्भणिहा।। –ति०प०, ९/१६.
पुरिसायारो अप्पा सिद्धो झाएहि लोयसिहरत्थो। –द्र०सं० ५१
...गत सिक्थमूषागर्भाकारवच्छायाप्रतिमावद्वा पुरुषाकारः। –वही, टीका
माणुसलोयपमाणे संठिय तणुवादउवरिमे भागे।
सरिसा सिरा सव्वाणं हेट्ठिमभागम्मि विसरिसा केई।। –ति०प० ९/१५.

२. लोकस्याग्रे व्यवहरणतः संस्थितो देवदेवः।
स्वात्मन्युच्चैरविचलतया निश्चयेनैवमास्ते।। –नियमसार, ता०वृ० १७६ क २९४

३. भंगविहीणो य भवो संभवपरिवज्जिदो विणासो हि। –प्र०सा० १७

पुनर्बन्धप्रसंगो जानतः पश्यतश्च कारुण्यादिति चेत्, न, सर्वास्त्रवपरिक्षयात्।.... भक्तिस्नेहकृपास्पृहादीनां रागविकल्पत्वाद्वीतरागे न ते सन्तीति। अकस्मादिति चेत्, अनिर्मोक्षप्रसङ्गः ....मुक्तिप्राप्त्यनन्तरमपि बन्धोपपत्तेः। स्थानवत्वात्पात इति चेत्, न, अनास्त्रवत्वात्। आस्त्रवतो हि पानपात्रस्याधःपतनं दृश्यते, न चास्त्रवो मुक्तस्यास्ति। गौरवाभावाच्च। ..... यस्य हि स्थानवत्वं पातकारणं तस्य सर्वेषां पदार्थानां (आकाशादीनां) पातः स्यात् स्थानवत्त्वाविशेषात्।

–राजवार्तिक १०/४ /४-८/६४२-२७.

दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः।।–रा०वा०१०/२/३/६४१/६ पर उद्धृत।
ण च ते संसारे णिविदं ति णट्ठासवत्तादो। –ध० ४/१.५.३१०/४७७/५
सिज्झन्ति जत्तिया खलु इह संववहारजीवरासीओ।
एंति अणाइवस्सइ रासीओ तित्तआ तम्मि।।२
इति वचनाद्, यावन्तश्च यतो मुक्तिं गच्छन्ति जीवास्तावन्तोऽनादि-निगोदवनस्पतिराशेस्तत्रागच्छन्ति। –स्याद्वादमञ्जरी २९/३३१/१३ पर उद्धृत।

## सिद्धों में परस्पर अपेक्षाकृत भेद

स्वरूपतः सिद्धों में कोई भेद नहीं है, परन्तु पूर्वकालिक क्षेत्र, काल, गति, लिङ्ग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येक-बोधित, बुद्ध-बोधित, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या और अल्पबहुत्व की अपेक्षा सिद्धों में उपचार से भेद बतलाया गया है।[१]

## अर्हन्त और सिद्ध में कथंचिद् भेदाभेद

सभी आठों कर्मों को नष्ट करने वाले सिद्ध होते हैं तथा चार घातिया कर्मों (मोहनीय,अन्तराय, दर्शनावरणीय और ज्ञानावरणीय) को नष्ट करने वाले अर्हन्त होते हैं। यही दोनों में भेद है। चार घातिया कर्मों के नष्ट हो जाने पर अर्हन्तों में आत्मा के सभी गुण प्रकट हो जाते हैं। अतः अर्हन्त और सिद्ध परमेष्ठियों में गुणकृत भेद नहीं है। अर्हन्तों के अवशिष्ट अघातिया कर्म (वेदनीय, आयुः, नाम और गोत्र) जो शरीर से सम्बन्ध रखते हैं, आत्मगुणों का घात नहीं करते हैं। आयुःकर्म के शेष रहने के कारण उन्हें संसार में रहना पड़ता है परन्तु उन्हें सांसारिक दुःख नहीं होते हैं। सिद्धों की अपेक्षा अर्हन्तों को णमोकार मन्त्र में पहले नमस्कार इसलिए किया है, क्योंकि उनके उपदेश से ही हमें धर्म का स्वरूप ज्ञात होता है। उन दोनों में सलेपत्व (अर्हन्त), निर्लेपत्व (सिद्ध) तथा देश-भेदादि की अपेक्षा भेद है।[२]

---

१. क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः।

—त०सू० १०.९

२. सिद्धानामर्हतां च को भेद इति चेन्न, नष्टाष्टकर्माणः सिद्धाः नष्टघातिकर्माणोऽर्हन्त इति तयोर्भेदः। नष्टेषु घातिकर्मस्वाविर्भूताशेषात्मगुणत्वान्न गुणकृतस्तयोर्भेद इति चेन्न, अघातिकर्मोदयसत्त्वोपलम्भात्। तानि शुक्लध्यानाग्निनार्धदग्धत्वात्सन्त्यपि न स्वकार्यकतृणीति चेन्न, पिण्डनिपाताभावान्यथानुपपत्तितः आयुष्यादिशेषकर्मोदयास्तित्वसिद्धेः। तत्कार्यस्य चतुरशीतिलक्षयोन्यात्मकस्य जातिजरामरणोपलक्षितस्य संसारस्यासत्त्वात्तेषामात्मगुणघातन-सामर्थ्याभावाच्च न तयोर्गुणकृतो भेद इति चेन्न, आयुष्य-वेदनीयोदययोर्जीवोर्ध्वगमन-सुखप्रतिबन्धकयोः सत्वात्। नोर्ध्वगमनमात्मगुणस्तदभावे चात्मनो विनाशप्रसङ्गात्। सुखमपि न गुणस्तत एव। न वेदनीयोदयो दुःखजनकः केवलिनि केवलित्वान्यथानुपपत्तेरिति चेदस्त्वेवमेव न्यायप्राप्तत्वात्। किन्तु सलेपनिर्लेपत्वाभ्यां देशभेदाच्च तयोर्भेद इति सिद्धम्।

—ध०, १/१.१.१/४६/२.



## उपसंहार

इस तरह सच्चे देव (परमात्मा) वही हैं जिन्होंने अपने वीतरागी भाव से चारों घातिया कर्मों अथवा घातिया और अघातिया समस्त आवरक कर्मों का क्षय करके शुद्ध आत्मारूप को प्राप्त कर लिया है। वीतरागी होने से ही वे पूज्य हैं तथा आदर्श हैं। ऐसे वीतरागी देव मुख्यरूप से दो प्रकार के हैं—

(१) **अर्हन्त (सशरीरी, जीवन्मुक्त)**— जिन्होंने चारों घातिया कर्मों का तो पूर्णतः क्षय कर दिया है परन्तु आयुकर्म शेष रहने के कारण चारों अघातिया कर्मों का क्षय नहीं किया है। आयुः की पूर्णता होते ही जो इसी जन्म में अवशिष्ट सभी अघातिया कर्मों का नियम से क्षय करेंगे ऐसे 'भावमोक्ष' वाले जीव सच्चे देव हैं। इनसे ही हमें धर्मोपदेश प्राप्त होता है। अतएव णमोकार मंत्र में णमो अरिहंताणं कहकर सर्वप्रथम इन्हीं को नमस्कार किया गया है। यद्यपि ये अभी संसार में हैं परन्तु इन्हें सांसारिक कोई बाधा नहीं है। ये अपेक्षाभेद से तीर्थङ्कर, मूक-केवली आदि भेद वाले होते हैं परन्तु अनन्त-चतुष्टय से सभी सम्पन्न हैं। ये परम-औदारिक शरीर वाले होते हैं। इनकी अकालमृत्यु नहीं होती। भोजन आदि नहीं करते। नख, केश नहीं बढ़ते। पसीना, मल, मूत्र आदि मल भी नहीं होता।

(२) **सिद्ध (विदेहमुक्त)**— आठों कर्मों के क्षय से जब शरीर भी नहीं रहता तो उसे सिद्धावस्था कहते हैं। ये ऊर्ध्वलोक में लोकाग्र में पुरुषाकार छायारूप में स्थित हैं। इनका पुनः संसार में आगमन नहीं होता है। इनकी अवगाहना चरमशरीर से कुछ कम होती है। 'णमो सिद्धाणं' कहकर इन्हीं को नमस्कार किया गया है। ये सच्चे परमदेव हैं। इस अवस्था को संसारी भव्यजीव वीतरागभाव की साधना से प्राप्त कर सकते हैं। इनकी आराधना से संसार के प्राणियों को मार्गदर्शन मिलता है। यदि संसार के प्राणी इनके अनुसार आचरण करते हैं तो वे भी कर्मक्षय करके सच्चे देव बन जाते हैं। इस तरह जैनधर्म में स्वीकृत आराध्यदेव साक्षात् कृपा आदि न करते हुए भी जगत् के लिए परमकल्याणकारी हैं।

इनके अतिरिक्त जो देवगति के देव हैं वे संसारी जीव हैं और कर्मों से आवृत्त हैं। देवगति के देवों में लौकान्तिक, सर्वार्थसिद्धि आदि के कुछ वैमानिक देव तो सम्यग्दृष्टि होने से मोक्षगामी हैं। परन्तु भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क देव और देवियाँ मिथ्यादृष्टि होने से सर्वथा अपूज्य हैं। अतः कल्याणार्थी को क्षेत्रपालादि देवों और पद्मावती आदि देवियों की जिनेन्द्रदेववत् पूजा नहीं करनी चाहिए। ये देव और देवियाँ इन्द्र के परिचारक-परिचारिकाएँ है जो इन्द्र के

आदेश से जिन-भक्तों की रक्षा आदि करते हैं। अतः इनमें वात्सल्य भाव तो रखा जा सकता है, सच्चे देवत्व का भाव नहीं। इन देव-देवियों की पूजा करने से रागभाव बढ़ता है, वीतरागभाव नहीं। इनसे सांसारिक लाभ की कथंचित् आशा तो की जा सकती है, मुक्ति की नहीं। सांसारिक लाभ की आशा से किया गया समस्त प्रयत्न संसार-बन्धन का कारण है। इनका स्थान जिन-मन्दिर के बाहर रक्षक के रूप में होना चाहिए और उनके प्रति हमारा रक्षक के रूप में वात्सल्यभाव होना चाहिए। अतएव सच्चे अर्हन्त और सिद्ध देव ही संसार-मुक्ति के लिए आराध्य हैं।

यहाँ इतना और जानना आवश्यक है कि जैनधर्म में स्वीकृत देवाधिदेव ईश्वर (अर्हन्त और सिद्ध) न्यायदर्शन की तरह न तो जगत् की सृष्टि करते हैं; न उसका पालन-पोषण करते हैं और न संहार क्रिया करते हैं क्योंकि वे पूर्णतः वीतरागी हैं। यदि आराध्य ईश्वर में ऐसी क्रियायें मानी जायेंगी तो वह संसारी प्रशासकों की तरह राग-द्वेष भाव युक्त होगा। ऐसा सरागी ईश्वर मुक्ति के लिए हमारा आराध्य नहीं हो सकता है। जैनधर्म में ईश्वर की आराधना करके भक्त न तो उनसे कुछ मागता है और न ईश्वर उसे कुछ देता है परन्तु भक्त ईश्वर के गुणों का चिन्तन करके तद्वत् बनने का प्रयत्न करता है। अच्छे चिन्तवन के परिणाम स्वरूप भक्त के आत्म-परिणामों में निर्मलता आती है, कर्मक्षयादि होते हैं और उसे अनुकूल फलोपलब्धि होती है। इससे हमें यह भी ज्ञात होता है कि हम भी कर्मक्षय करके, अपने शुद्ध आत्म-स्वरूप को जानकर अर्हन्त-सिद्ध हो सकते हैं।

**णमो अरिहंताणं।**

**णमो सिद्धाणं।।**

●

## द्वितीय अध्याय

# शास्त्र (आगम-ग्रन्थ)

### शास्त्र का अभिप्राय

'शास्त्र' शब्द का सामान्य अर्थ है– 'ग्रन्थ'। विभिन्न विषयों से सम्बन्धित ग्रन्थों (पुस्तकों) को विभिन्न नामों से जाना जाता है। जैसे— अर्थशास्त्र, काव्यशास्त्र, वैद्यकशास्त्र, छन्दशास्त्र, निमित्तशास्त्र, व्याकरणशास्त्र आदि। ये सभी लौकिक या भौतिक शास्त्र हैं। इनसे भिन्न जो अध्यात्मशास्त्र हैं, वे ही यहाँ विचारणीय हैं। इन अध्यात्मशास्त्रों में भी जो प्रामाणिक हैं उन्हें 'आगम' कहते हैं। सर्वज्ञ भगवान् के उपदेश के पश्चात् आचार्य-परम्परा से प्राप्त (आगत) उपदेश (मूल सिद्धान्त) को 'आगम' कहते हैं अर्थात् पूर्वोक्त अर्हन्त देव के मूल सिद्धान्तों के प्रतिपादक ग्रन्थ 'आगम' कहलाते हैं। सर्वज्ञ का उपदेश होने से प्रामाणिक हैं और जो उनके उपदेश के अनुकूल न हों वे अप्रामाणिक हैं। प्रारम्भ में ये अलिखित थे और कर्ण-परम्परा से सुनकर याद रखे जाते थे। अतः इन्हें 'श्रुत' और इनके ज्ञाता को 'श्रुतज्ञ' या 'श्रुतकेवली' कहा जाता है। सूत्रात्मक शैली में निबद्ध होने से इन्हें 'सूत्र' भी कहा जाता है।

### इतिहास

प्रारम्भ में जैनागम यद्यपि बहुत विस्तृत था परन्तु कालान्तर में कालदोष के कारण इसका अधिकांश भाग नष्ट हो गया है। इतिहास-सम्बन्धी विवेचन निम्न प्रकार है–

### शब्दों की अपेक्षा भावों का प्राधान्य

आगम की सार्थकता उसकी शब्दरचना के कारण नहीं है। अतएव शब्द-रचना को उपचार से आगम कहा गया है। शब्दों के अर्थ क्षेत्र, काल आदि के अनुसार बदलते रहते हैं, परन्तु भावार्थ वही रहता है। इसलिए शब्द बदलने पर भी भाव की अपेक्षा आगम को अनादि कहा है। वह पक्षपातरहित वीतरागी गुरुओं के द्वारा प्रणीत होने से पूर्वापरविरोधरहित एवं प्रामाणिक है। शब्द-रचना की दृष्टि से यद्यपि आगम पौरुषेय (पुरुष-प्रणीत) है, परन्तु अनादिगतभाव की अपेक्षा

अपौरुषेय है। जैनागमों की रचना प्रायः सूत्रों में हुई है। पश्चात् अल्पबुद्धि वालों के लिए उनके भावों को स्पष्ट करने के लिए टीकायें आदि लिखी गईं जो मूलसूत्रों के भावार्थ का प्रतिपादन करने के कारण प्रामाणिक हैं। यहाँ इतना विशेष है कि जो ग्रन्थ अनेकान्त और स्याद्वाद आदि सिद्धान्तों के अनुसार वीतरागता का अथवा रत्नत्रय आदि का प्रतिपादन करते हैं वे ही प्रामाणिक हैं, अन्य नहीं। शास्त्रकार ने जिस बात को जिस सन्दर्भ में कहा है, हमें उसी सन्दर्भ की दृष्टि से अर्थ करना चाहिए, अन्यथा मूलभावना (मूलसिद्धान्त) का हनन होगा, जो इष्ट नहीं है।

## भगवान् की वाणी

भगवान् की वाणी ओंकाररूप=निरक्षरी (शब्दों से बंधी नहीं, क्योंकि अनन्त पदार्थों का कथन अक्षरात्मक वाणी से सम्भव नहीं है) रही है जो सर्वसामान्य होते हुए भी गणधर में ही उसे सही समझने की योग्यता (ज्ञान-क्षयोपशम) मानी गई है। अतः अर्हन्त भगवान् की वाणी गणधर की उपस्थिति में ही खिरती है। चार ज्ञानों के धारी गणधर उसे ज्ञानरूप से जानकर आचाराङ्ग आदि शास्त्रों के रूप में रचना करते हैं।

## मूलसंघ में बिखराव[1]

भगवान् महावीर के निर्वाण के ६२ वर्ष बाद तक गौतम (इन्द्रभूति), सुधर्मा और जम्बू ये तीन गणधर केवली हुए हैं। इन तीन केवलियों के बाद केवलज्ञानियों की परम्परा व्युच्छिन्न हो गई। पश्चात् ११ अंग और १४ पूर्वों के ज्ञाता पूर्णश्रुतकेवलियों की परम्परा अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु प्रथम (वी. नि. सं. १०० वर्ष या १६२ वर्ष) तक चली। अर्थात् भद्रबाहु तक पाँच श्रुतकेवली हुए। इसके बाद क्रमिक ह्रास होते हुए ग्यारह आचार्य ग्यारह अंग और दशपूर्वधारी हुए। इसके बाद पाँच आचार्य ग्यारह अंगधारी हुए। तदनन्तर कुछ आचार्य दश, नौ और आठ अंगों के धारी हुए। इस क्रम में भद्रबाहु द्वितीय (वी.नि. ४९२) और उनके शिष्य लोहाचार्य हुए। इस तरह लोहाचार्य तक यह श्रुत-परम्परा चली। इसके बाद अंगों या पूर्वों के अंशमात्र के ज्ञाता रहे। यह अंगांशधर या पूर्वांशविद् की परम्परा अर्हद्बलि (गुप्तिगुप्त), माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि (वी०नि०सं० ६८३ वर्ष) तक चली। इस ऐतिहासिक विषय का उल्लेख दिगम्बर

१. देखें, जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग १, इतिहास शब्द । परवार जैन समाज का इतिहास, पृ० ९६, १०९ तथा प्रस्तावना, पृ०२१-२४। भगवान् महावीर और उनकी आचार्य परम्परा। षट्खण्डागम, प्रस्तावना, डॉ. हीरालाल जैन।



साहित्य में दो प्रकार से मिलता है— १. तिलोयपण्णत्ति, हरिवंशपुराण, धवला आदि मूल ग्रन्थों में, और २. आचार्य इन्द्रनन्दि (वि०सं० ९९६) कृत श्रुतावतार में। इनसे ज्ञात होता है कि गौतम गणधर से लेकर अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी (वी०नि० के १६२ वर्ष बाद) तक मूलसंघ अविच्छिन्न रूप से चलता रहा। पश्चात् ह्रास होते हुए लोहाचार्य तक एकरूप से चला। लोहाचार्य के बाद मूलसंघ का विभाजन संभवतः निम्न प्रकार हुआ–

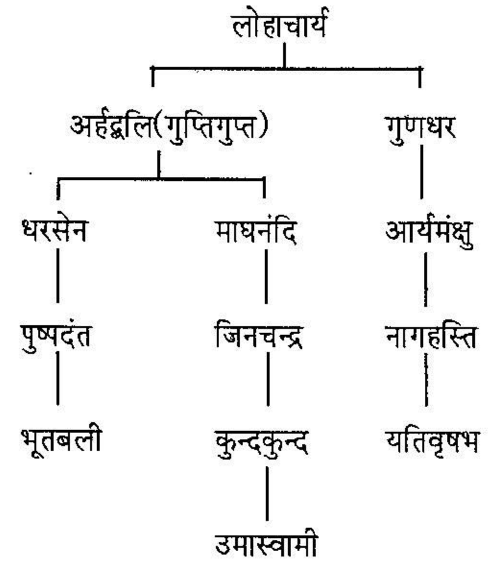


भद्रबाहु प्रथम के समय में अवन्तिदेश में १२ वर्ष का दुर्भिक्ष पड़ा जिसके कारण इस मूलसंघ के कुछ आचार्यों में शिथिलाचार आ गया और आचार्य स्थूलभद्र (भद्रबाहु प्रथम के शिष्य) के संरक्षण में एक स्वतन्त्र श्वेताम्बर संघ की स्थापना हो गई। इस तरह जैन संघ दिगम्बर और श्वेताम्बर इन दो शाखाओं में विभाजित हो गया। दिगम्बर भद्रबाहु स्वामी की संघव्यवस्था आचार्य अर्हद्बलि=गुप्तिगुप्त (वी०नि० ५६५-५९३) के काल में समाप्त हो गई और दिगम्बर मूलसंघ नन्दि, वृषभ आदि अवान्तर संघों में विभक्त हो गया। ऐतिहासिक उल्लेखानुसार आ० अर्हद्बलि ने पाँचवर्षीय युग-प्रतिक्रमण के समय (वी०नि० ५७५) संघटन बनाने के लिए दक्षिणदेशस्थ महिमा नगर (आन्ध्रप्रदेश का सतारा जिला) में एक महान् साधु-सम्मेलन बुलाया जिसमें १०० योजन तक के साधु सम्मिलित हुए। इस साधु-सम्मेलन में मतैक्य न होने से मूलसंघ बिखर गया।

## कसायपाहुड, छक्खण्डागम आदि श्रुतावतार

दिगम्बर श्रुतधराचार्यों की परम्परा में गुणधर और धरसेन श्रुतप्रतिष्ठापक के रूप में प्रसिद्ध हैं। गुणधराचार्य (वि०पू० प्रथम शताब्दी) को पञ्चम पूर्वगत 'पेज्जदोसपाहुड' तथा 'महाकम्मपयडिपाहुड' का ज्ञान प्राप्त था। उन्होंने कसायपाहुड (अपर नाम पेज्जदोसपाहुड) ग्रन्थ की रचना १८० गाथाओं में की है। 'पेज्ज' का अर्थ है 'राग'। अतः इस ग्रन्थ में राग-द्वेष रूप कषायों से सम्बन्धित विषय का निरूपण किया गया है। आचार्य गुणधर को दिगम्बर परम्परा में लिखित श्रुतग्रन्थ का प्रथम श्रुतकार माना गया है।

आचार्य धरसेन ने यद्यपि किसी ग्रन्थ की रचना नहीं की परन्तु उन्हें पूर्वगत 'कम्मपयडिपाहुड' का ज्ञान प्राप्त था। छक्खंडागम (षट्खण्डागम) विषय के ज्ञाता धरसेनाचार्य ने महिमा नगरी में सम्मिलित हुए दक्षिणपथ के आचार्यों के पास अङ्ग-श्रुत के विच्छेद की आशंका से एक पत्र लिखकर इच्छा व्यक्त की 'कोई योग्य शिष्य मेरे पास आकर षट्खण्डागम का अध्ययन करे'। उस समय आचार्य धरसेन (ई०सन् ७३ के आसपास) सौराष्ट्र देश के गिरिनगर (ऊर्जयन्त) नामक नगर की चन्द्रगुफा में रहते थे। पत्र-प्राप्ति के बाद दक्षिण से दो योग्य मुनि पुष्पदन्त और भूतबलि ने आकर उनसे अध्ययन किया। पश्चात् पुष्पदन्त ने छक्खण्डागम ग्रन्थ के प्रारम्भिक सत्प्ररूपणासूत्रों (बीसदि सुत्त = प्रथम खण्ड के १७७ सूत्रों) को बनाया। पुष्पदन्त का स्वर्गवास हो जाने पर शेष सूत्रों की रचना भूतबलि ने की।

छक्खण्डागम छः खण्डों में विभक्त है– जीवट्ठाण, खुद्दाबन्ध, बंधसामित्तविचय, वेयणा, वग्गणा और महाबंध। आचार्य वीरसेन (ईसा की ८-९वीं शताब्दी) ने इन दोनों ग्रन्थों पर विशाल धवला (षट्खण्डागमटीका) और जयधवला (कषायप्राभृत टीका) टीकायें लिखीं हैं।

इसके बाद आचार्य आर्यमंक्षु और नागहस्ति (ई. प्रथम शताब्दी) के क्रम से चूर्णिकार यतिवृषभाचार्य (ई०सन् १७६ के आसपास) ने कसायपाहुड पर चूर्णिसूत्र लिखे तथा तिलोयपण्णत्ति नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ की स्वतन्त्र रचना की। इसी क्रम में युगसंस्थापक आचार्य कुन्दकुन्द का नाम आता है जिन्होंने श्रुतस्कन्ध की रचना की तथा जिनके नाम से उत्तरवर्ती दिगम्बर-परम्परा 'कुन्दकुन्दाम्नाय' के नाम से प्रसिद्ध हुई। आचार्य 'कुन्दकुन्द' गुणधर, धरसेन, पुष्पदंत और भूतबली से पूर्ववर्ती हैं या समसमयवर्ती हैं या परवर्ती हैं, विद्वानों में मतैक्य नहीं है। डॉ देवेन्द्र कुमार जी कुन्दकुन्द को गुणधर के बाद और धरसेन के पूर्व सिद्ध



करते हैं। मूलसंघ की प्रतिष्ठापना यद्यपि आचार्य अर्हद्बलि के समय में ही हो गई थी परन्तु आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा मूलसंघ की प्रतिष्ठा बढ़ी। इसीलिए उत्तरवर्ती मूलसंघ परम्परा कुन्दकुन्दाम्नाय के नाम से प्रसिद्ध हुई।

## मूल आगम (अनुपलब्ध)

आगम दो प्रकार के हैं– १. अङ्ग (अङ्गप्रविष्ट) तथा २. अङ्गबाह्य।[१] गणधर-प्रणीत आचाराङ्ग आदि अङ्ग-प्रविष्ट ग्रन्थ कहलाते हैं। गणधर देव के शिष्य-प्रशिष्यों के द्वारा अल्प आयु-बुद्धि-बल वाले प्राणियों के लिए अङ्ग ग्रन्थों के आधार पर रचे गए संक्षिप्त ग्रन्थ अङ्गबाह्य कहलाते हैं।[२] जैसे–

**(क) अङ्ग के बारह भेद**[३]– १. आचार, २. सूत्रकृत, ३. स्थान, ४. समवाय, ५.व्याख्याप्रज्ञप्ति, ६. ज्ञातृधर्मकथा, ७. उपासकाध्ययन, ८. अन्तकृद्दश, ९. अनुत्तरोपपादिकदश, १०. प्रश्नव्याकरण, ११. विपाकसूत्र और १२. दृष्टिवाद। इसमें दृष्टिवाद के पाँच भेद हैं– परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। पूर्वगत के चौदह भेद हैं– उत्पादपूर्व, अग्रायणीय, वीर्यानुवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्याननामधेय, विद्यानुवाद, कल्याणनामधेय, प्राणावाय, क्रियाविशाल और लोकबिन्दुसार। चूलिका के पाँच भेद हैं– जलगता, स्थलगता, आकाशगता, रूपगता और मायागता।

(ख) **अङ्गबाह्य के चौदह भेद (अर्थाधिकार)**[४]— १. सामायिक, २. चतुर्विंशतिस्तव, ३. वन्दना, ४. प्रतिक्रमण, ५. वैनयिक, ६. कृतिकर्म, ७. दशवैकालिक, ८. उत्तराध्ययन, ९. कल्पव्यवहार, १०. कल्प्याकल्प्य, ११. महाकल्प, १२. पुण्डरीक, १३. महापुण्डरीक और १४. निषिद्धिका।

कालिक और उत्कालिक के भेद से अङ्गबाह्य अनेक प्रकार के हैं। जिनके पठन-पाठन का निश्चित (नियत) काल है उन्हें कालिक और जिनके पठन-पाठन का निश्चित काल नहीं है उन्हें उत्कालिक कहते हैं।[५]

---

१. श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् । –त०सू० १.२० तथा स०सि० टीका।

२. यद्गणधर-शिष्यप्रशिष्यैरारातीयैरधिगतश्रुतार्थतत्त्वैः कालदोषादल्पमेधायुर्बलानां प्राणिनामनुग्रहार्थमुपनिबद्धं संक्षिप्ताङ्गार्थवचनविन्यासं तदङ्गबाह्यम्। –रा०वा०, १/२०/७२/२५.

३. स०सि०, १/२०, रा०वा०, १/२०.

४. वही, तथा देखें, गो०जी०, ३६७-३६८/७८९.

५. तदङ्गबाह्यमनेकविधम् - कालिकमुत्कालिकमित्येवमादिविकल्पात्। स्वाध्यायकाले नियतकालं कालिकम्। अनियतकालमुत्कालिकम्। –रा०वा० १/२०/१४/७८/६

## अङ्ग और अङ्गबाह्य ग्रन्थों की विषयवस्तु आदि

इन अङ्ग और अङ्गबाह्य ग्रन्थों की उपलब्धता, विषयवस्तु, नाम आदि के सन्दर्भ में दिगम्बर और श्वेताम्बर मान्यताओं में कुछ मतभेद हैं। श्वेताम्बर मान्यतानुसार दृष्टिवाद को छोड़कर शेष ग्यारह अङ्ग ग्रन्थ तथा उत्तराध्ययन आदि अङ्गबाह्य ग्रन्थ आज भी संग्रहरूप में उपलब्ध हैं, परन्तु दिगम्बर मान्यतानुसार ये सभी ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं। दिगम्बर मान्यतानुसार छक्खण्डागम और कसायपाहुड ये दो प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं जो पूर्वों के आधार पर लिखे गए हैं।[१] अङ्ग और अङ्गबाह्य ग्रन्थों की दिगम्बर मान्यतानुसार विषयवस्तु आदि से सम्बन्धित जानकारी राजवार्तिक आदि ग्रन्थों से जानी जा सकती है।[२]

## आगम का सामान्य स्वरूप

आगम, सिद्धान्त और प्रवचन ये तीनों पर्यायवाची शब्द हैं।[३] आगम के स्वरूप के सम्बन्ध में निम्न उल्लेख ध्यातव्य हैं–

(१) उन तीर्थङ्करों के मुख से निकली हुई वाणी जो पूर्वापर दोष से रहित हो और शुद्ध हो उसे 'आगम' कहते हैं। आगम को ही 'तत्त्वार्थ' कहते हैं।[४]

(२) जो आप्त के द्वारा कहा गया हो, वादी-प्रतिवादी के द्वारा अखण्डित हो, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अविरुद्ध हो, वस्तुस्वरूप का प्रतिपादक हो, सभी का हितकारक हो तथा मिथ्यामार्ग का खण्डन करने वाला हो, वही सत्यार्थ-शास्त्र है।[५]

(३) जिसके सभी दोष नष्ट हो गए हैं ऐसे प्रत्यक्षज्ञानियों (सर्वज्ञों = केवलियों) के द्वारा प्रणीत शास्त्र ही आगम हैं, अन्यथा आगम और अनागम में कोई भेद नहीं हो सकेगा।[६]

१. विशेष के लिए देखें, मेरा लेख 'अङ्ग आगमों के विषय-वस्तु-सम्बन्धी उल्लेखों का तुलनात्मक अध्ययन'— एस्पेक्ट्स ऑफ जैनोलॉजी, वाल्यूम ३.

२. विशेष के लिए देखें, वही तथा राजवार्तिक (१.२०); धवला, हरिवंशपुराण, गो०जीवकाण्ड आदि।

३. आगमो सिद्धंतो पवयणमिदि एयट्ठो। –ध० १/१.१.१/२०/७.

४. तस्स मुहग्गदवयणं पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं।
आगममिदि परिकहियं तेण दु कहिया हवंति तच्चत्था।। –नि०सा० ८.

५. आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम्।। –र०क० ९.

६. आप्तेन हि क्षीणदोषेण प्रत्यक्षज्ञानेन प्रणीत आगमो भवति, न सर्वः। यदि सर्वः स्यात्, अविशेषः स्यात्। –रा०वा०, १/१२/७/५४/८.



(४) पूर्वापर-विरोध आदि दोषों से रहित तथा समस्त पदार्थ-प्रतिपादक आप्तवचन को आगम कहते हैं। अर्थात् आप्त के वचन को आगम जानना चाहिए। जन्म-जरा आदि अठारह दोषों से रहित को आप्त कहते हैं। ऐसे आप्त के द्वारा असत्य वचन बोलने का कोई कारण नहीं है।[१]

(५) आप्त-वचन आदि से होने वाले पदार्थज्ञान को आगम कहते हैं।[२]

(६) जिसमें वीतरागी सर्वज्ञ के द्वारा प्रतिपादित भेद-रत्नत्रय (षड्द्रव्य-श्रद्धान, सम्यग्ज्ञान तथा व्रतादि का अनुष्ठान रूप भेदरत्नत्रय) का स्वरूप वर्णित हो, उसे आगमशास्त्र कहते हैं।[३]

(७) जिसके द्वारा अनन्त धर्मों से विशिष्ट जीवादि पदार्थ समस्त रूप से जाने जाते हैं, ऐसी आप्त-आज्ञा ही आगम है, शासन है।[४]

(८) आप्त-वाक्य के अनुरूप अर्थज्ञान को आगम कहते हैं।[५]

इन सन्दर्भों से स्पष्ट है कि आगम वही है, जो वीतरागी द्वारा प्रणीत हो। अतएव आगमवन्तों का जो ज्ञान होता है वह न्यूनता से रहित, अधिकता से रहित, विपरीतता से रहित तथा निःसन्दिग्ध वस्तुतत्त्व की यथार्थता से युक्त होता है।[६] जो रागी, द्वेषी और अज्ञानियों के द्वारा प्रणीत ग्रन्थ हैं वे आगमाभास (मिथ्या

१. पूर्वापरविरुद्धादेर्व्यपेतो दोषसंहते।
द्योतकः सर्वभावानामाप्तव्याहतिरागमः।।९।।
आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं दोषक्षयं विदुः ।
त्यक्तदोषोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद्धेत्वसंभवात्।।१०।।
रागाद्वा दोषाद्वा मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम्।
यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारणं नास्ति।। –ध० ३/१.२.२/९-११.

२. आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः। –परीक्षामुख ३/९९

३. वीतरागसर्वज्ञप्रणीत-षड्द्रव्यादि-सम्यक्श्रद्धानज्ञानव्रताद्यनुष्ठानभेदरत्नत्रयस्वरूपं यत्र प्रतिपाद्यते तदागम-शास्त्रं भण्यते। –पंचास्तिकाय, ता०वृ० १७३/२५५.

४. आसमस्त्येनानन्तधर्मविशिष्टतया ज्ञायन्तेऽवबुद्ध्यन्ते जीवाजीवादयः पदार्थाः यया सा आज्ञा आगमः शासनम्। –स्याद्वादमञ्जरी २१/२६२/७.

५. आप्तवाक्यनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः। –न्यायदीपिका ३/७३/११२

६. अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्।
निःसंदेहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः।। –नि०सा०,ता०वृ० ८ में उद्धृत।

आगम) हैं।[१] आप्त के उपदेश को शब्दप्रमाण कहते हैं।[२] शब्दप्रमाण ही श्रुत है।[३] आगम परोक्षप्रमाण श्रुतज्ञान का एक भेद है।[४]

## श्रुत या सूत्र के दो प्रकार : द्रव्यश्रुत और भावश्रुत

श्रुत ही सूत्र है और वह सूत्र भगवान् अर्हन्त सर्वज्ञ के द्वारा उपदिष्ट स्यात्कार चिह्नयुक्त प्रौद्गलिक शब्दब्रह्म है।[५] परिच्छित्तिरूप भावश्रुत = ज्ञानसमय को सूत्र कहते हैं।[६] अर्थात् वचनात्मक द्रव्यश्रुत कहलाता है और ज्ञानात्मक भावश्रुत कहलाता है। वास्तव में भावश्रुत ही श्रुत-ज्ञान है, द्रव्यश्रुत श्रुतज्ञान नहीं।[७] भाव का ग्रहण ही आगम है।[८] शब्दात्मक होने से द्रव्यश्रुत को श्रुत कहते हैं। द्रव्यश्रुतरूप आगम को श्रुतज्ञान उपचार से (कारण में कार्य का उपचार करने से) कहा जाता है क्योंकि द्रव्यश्रुतरूप आगम के अभ्यास से श्रुतज्ञान तथा संशयादिरहित निश्चल परिणाम होता है।[९]

---

१. रागद्वेषमोहाक्रान्तपुरुषवचनाज्जातमागमाभासम्। यथा नद्यास्तीरे मोदकराशयः सन्ति, धावध्वं माणवकाः अंगुल्यग्रहस्तियूथशतमस्ति इति च विसंवादात्।
—प०मु० ६५१-५४/६९.

२. आप्तोपदेशः शब्दः। —न्यायदर्शनसूत्र १/१/७/१५.

३. शब्दप्रमाणं श्रुतमेव। —रा०वा०, १/२०/१५/७८/१८.

४. गो०जी० ३१३.

५. श्रुतं हि तावत् सूत्रं। तच्च भगवदर्हत्सर्वज्ञोपज्ञं स्यात्कारकेतनं पौद्गलिकम् शब्दब्रह्म।
—प्र०सा०, त०प्र० ३४.

६. सूत्रं परिच्छित्तिरूपं भावश्रुतं ज्ञानसमय इति। —स०सा०, ता०वृ०१५.

७. ण च दव्वसुदेण एत्थ अहियारो, पोग्गलवियारस्स जडस्स णाणोपलिङ्गभूदस्स सुदत्त-विरोहादो। —ध० १३/५.४.२६/६४/१२.

८. आप्तवाक्यनिबन्धनज्ञानमित्युच्यमानेऽपि आप्तवाक्यकर्मके श्रावणप्रत्यक्षेऽतिव्याप्तिः। तात्पर्यमेव वचसीत्यभियुक्तवचनात्। —न्यायदीपिका ३/७३.

९. कथं शब्दस्य तत्स्थापनायाश्च श्रुतव्यपदेशः। नैष दोषः, कारणे कार्योपचारात्।
—ध० ९/४.१.४५/१६२/३.

श्रुतभावनायाः फलं जीवादितत्त्वविषये संक्षेपेण हेयोपादेयतत्त्वविषये वा संशय-विमोहविभ्रमरहितो निश्चलपरिणामो भवति। —पञ्चास्तिकाय, ता०वृ० १७३/२५४/१९

श्रवणं हि श्रुतज्ञानं, न पुनः शब्दमात्रकम्। तच्चोपचारतो ग्राह्यं श्रुतशब्दप्रयोगतः।
—श्लोकवार्तिक १/१/२०/२-३.



## श्रुत तथा आगमज्ञान के अतिचार

शास्त्र को पढ़ना मात्र स्वाध्याय नहीं है, अपितु द्रव्यशुद्धि, क्षेत्रशुद्धि, कालशुद्धि और भावशुद्धि का भी ध्यान रखना चाहिए। इन शुद्धियों के बिना शास्त्र का पढ़ना 'श्रुतातिचार' कहलाता है।[१] इसी प्रकार अक्षर, पद, वाक्य आदि को कम करना, बढ़ाना, पीछे का सन्दर्भ आगे लाना, आगे का सन्दर्भ पीछे ले जाना, विपरीत अर्थ करना, ग्रन्थ एवं अर्थ में विपरीतता करना ये सब 'ज्ञानातिचार' हैं।[२] अर्थात् शास्त्र का अर्थ सही ढङ्ग से करना चाहिए। उसमें थोड़ा सा भी उलट-पुलट करने से अर्थ का अनर्थ हो सकता है।

## श्रुतादि का वक्ता कौन?

केवली भगवान् के द्वारा उपदिष्ट तथा अतिशय बुद्धि-ऋद्धि के धारक गणधर देवों के द्वारा जो धारण किया गया है उसे 'श्रुत' कहते हैं।[३] इस तरह श्रुत या सूत्र अर्थतः जिनदेव-कथित ही हैं परन्तु शब्दतः गणधर-कथित वचन भी सूत्र के समान हैं।[४] प्रत्येकबुद्ध आदि के द्वारा कथित वचनों में भी सूत्रता पाई जाती है[५]। इसी प्रसङ्ग से कसायपाहुडकार की गाथाओं में भी सूत्रता है। यद्यपि उनके कर्ता गुणधर भट्टारक न गणधर हैं, न प्रत्येक बुद्ध हैं, न श्रुतकेवली हैं और न अभिन्नदशपूर्वी हैं, फिरभी गुणधर भट्टारक की गाथाओं में निर्दोषत्व, अल्पाक्षरत्व और सहेतुकत्व पाया जाने से सूत्रत्व मान्य है।[६]

---

१. द्रव्यक्षेत्रकालभावशुद्धिमन्तरेण श्रुतस्य पठनं श्रुतातिचारः। —भ० आ०, वि० १६/६२/१५.

२. अक्षरपदादीनां न्यूनताकरणं, अतिवृद्धिकरणं, विपरीतपौर्वापर्यरचनाविपरीतार्थनिरुपणा ग्रन्थार्थयोर्वैपरीत्यं अमी ज्ञानातिचाराः। —भ० आ०, वि० १६/६२/१५.

३. तदुपदिष्टं बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तगणधरावधारितं श्रुतम्। —रा० वा० ६/१३/२/५२३/२९.

४. एदं सव्वं पि सुत्तलक्खणं जिणवयणकमलविणिग्गय-अत्थपदाणं चेव संभवइ; ण गणहरमुहविणिग्गयगंथरयणाए, तत्थ महापरिमाणत्तुवलंभादो, ण, सुत्तसारिच्छमस्सिदूण।
—क० पा० १/१.१५/१२०/१५४.

५. सुत्तं गणहरगधिदं तहेव पत्तेयबुद्धकहियं च।
सुदकेवलिणा कहियं अभिण्णदसपुव्विगधिदं च।। —भ० आ० ३४ तथा मूलाचार २७७.

६. णेदाओ गाहाओ सुत्तं गणहर - पत्तेयबुद्ध-सुदकेवलि-अभिण्णदसपुव्वीसु गुणहरभडारस्स अभावादो, ण णिद्दोसपक्खरसहेउपताणेहि सुत्तेण सरिसत्तममत्थित्ति गुणहराइरियगाहाणं पि सुत्तत्तुवलंभादो। ......एवं सव्वं पि सुत्तलक्खणं जिणवयणकमलविणिग्गयअत्थपदाणं चेव संभवइ, ण गणहरमुहविणिग्गयगंथरयणाए, ण सच्च (सुत्त) सारिच्छमस्सिदूण तत्थ वि सुत्तत्तं पडिविरोहाभावादो। —क०पा०, जयधवला १/१/११९-१२०.

**आगमों की प्रामाणिकता के पाँच आधार-बिन्दु**

संसार में अनेक अध्यात्म ग्रन्थ उपलब्ध हैं उनकी प्रामाणिकता का निर्णय कैसे किया जाए ? इस सन्दर्भ में निम्न बिन्दु ध्यान देने योग्य हैं—

(१) **जो अर्हत् केवली (अतिशय ज्ञानवालों) के द्वारा प्रणीत हो**— जैसे लोकव्यवहार में इन्द्रिय-प्रत्यक्ष स्वभावतः प्रमाण है उसी प्रकार आर्ष-वचन भी स्वभावतः प्रमाण हैं, क्योंकि वक्ता की प्रमाणता से वचन में प्रमाणता आती है।[१] जो धर्म, सर्वज्ञ वीतराग के द्वारा कहा गया हो वह प्रमाण है। जिस आगम का बनाने वाला रागादि-दोष युक्त होता है वह आगम अप्रमाण होता है। जिसने सम्पूर्ण भावकर्म और द्रव्यकर्म को दूर करके सम्पूर्ण वस्तुविषयक ज्ञान प्राप्त कर लिया है उसका आगम अप्रमाण कैसे हो सकता है।[२] पुरुषप्रणीत होना अप्रमाणता का कारण नहीं है।[३]

(२) **जो वीतरागी द्वारा प्रणीत हो**— राग,द्वेष, मोह आदि के वशीभूत होकर ही असत्य वचन बोला जाता है। जिसमें रागादि दोष नहीं हैं उसके वचनों में अंश मात्र भी असत्यता का प्रश्न उपस्थित नहीं होता है।[४]

१. चेत्स्वाभाव्यात्प्रत्यक्षस्येव। —ध० १/१.१.७५/३१४/५.
वक्तृप्रामाण्याद्वचनप्रामाण्यम्। —ध० १/१.१.२२/१९६/४.

२. अतिशयज्ञानदृष्टत्वात् भगवतामर्हतामतिशयवज्ज्ञानं युगपत्सर्वार्थावभासनसमर्थं प्रत्यक्षम्, तेन दृष्टं तद् दृष्टं यच्छास्त्रं तद् यथार्थोपदेशकम् अतस्तत्प्रामाण्याद् ज्ञानावरणाद्यास्त्रवनियमप्रसिद्धिः। —रा०वा०, ६/२७/५/५३२ तथा ८/१६/५६२.
विगताशेषदोषावरणत्वात् प्राप्ताशेषवस्तुविषयबोधस्तस्य व्याख्यातेति प्रतिपत्तव्यम् अन्यथास्यापौरुषेयत्वस्यापि पौरुषेयवदप्रामाण्यप्रसङ्गात्। —ध० १/१.१.२२/१९६/५.
सर्वविद्वीतरागोक्तं धर्मः सूनृततां व्रजेत्।
प्रामाण्यतो यतः पुंसो वाचः प्रामाण्यमिष्यते।। —पद्मनंदि-पंचविंशतिका ४/१०.

३. किं बहुना सर्वतत्त्वानां प्रवक्तरि पुरुषे आप्ते सिद्धे सति तद्वाक्यस्यागमस्य सूक्ष्मान्तरितदूरार्थेषु प्रामाण्यसुप्रसिद्धेः। —गो०जी०/जी०प्र० १९६/४३८/१.

४. देखें, पृ० ३३, टि० १ तथा
पमाणत्तं कुदो णव्वदे? रागदोसमोहभावेण पमाणीभूदपुरिसपरंपराए आगमत्तादो।
—ध०१०/५.५.१२१/३८२/१.
जिनोक्ते वा कुतो हेतुर्बाधगन्धोऽपि शङ्क्यते।
रागादिना विना को हि करोति वितथं वचः।। —अन०ध० २/२०.



(३) **जो गणधरादि आचार्यों द्वारा कथित हो**— जिन-वचनवत् गणधरादि के वचन भी सूत्र के समान होते हैं। अतः गणधरादि के वचनों में भी प्रामाणिकता है।[१]

(४) **जो आचार्य-परम्परा से आगत कथन हो**— आज श्रुतकेवली आदि का अभाव है। अतएव प्रमाणीभूत पुरुष-परम्परा (आचार्य-परम्परा) से प्राप्त कथन में ही प्रामाणिकता मानना चाहिए। यदि प्रमाणीभूत पुरुषपरम्परा का व्यवधान हो तो पूर्व-पूर्ववर्ती आचार्य का कथन प्रामाणिक मानना होगा, जहाँ तक प्रमाणीभूत पुरुषपरम्परा प्राप्त है।[२]

(५) **जो युक्ति और शास्त्र से बाधित न हो**— शास्त्रप्रमाण से तथा युक्ति से जो तत्त्व बाधित नहीं होता है वह प्रामाणिक माना जाता है।[३] आगम में तीन प्रकार के पदार्थ बतलाए हैं— दृष्ट, अनुमेय और परोक्ष। आगम में जो वाक्य या पदार्थ जिस दृष्टि से कहा गया हो उसको उसी दृष्टि से प्रमाण मानना चाहिए। यदि वाक्य दृष्ट-विषय में आया हो तो प्रत्यक्ष से, अनुमेय-विषय में आया हो तो अनुमान से तथा परोक्ष-विषय में आया हो तो पूर्वापर का अविरोध देखकर प्रमाणित करना चाहिए।[४] गुरु-परम्परा से प्राप्त उपदेश को केवल युक्ति के बल से विघटित नहीं किया जा सकता, क्योंकि आगम (सूत्र या श्रुत) वही है जो समस्त बाधाओं से रहित हो।[५]

१. देखें, पृ० ३५, टि० ६.

२. पमाणत्तं कुदो णव्वदे। .... पमाणीभूदपुरिसपरंपराए आगदत्तादो।
—ध० १३/५.५.१२१/३८२/१.

३. अविरोधश्च यस्मादिष्टं मोक्षादिकं तत्त्वं ते प्रसिद्धेन प्रमाणेन न बाध्यते। तथा हि यत्र यस्याभिमतं तत्त्वं प्रमाणेन न बाध्यते स तत्र युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्। —अष्टसहस्त्री, पृ० ६२.

४. दृष्टेऽर्थेऽध्यक्षतो वाक्यमनुमेयेऽनुमानतः।
पूर्वापरविरोधेन परोक्षे च प्रमाण्यताम्।। —अन०ध० २/१८/१३३.

५. कथं णाम सण्णिदाण पदवक्काणं पमाणत्तं। ण, तेसु विसंवादाणुवलंभादो।
—क०पा० १/१.१५/३०/४४/४.
तदो ण एत्थ इदमित्थमेवेति एयंतपरिग्गहेण असग्गाहो कायव्वो, परमगुरुपरंपरागउवएसस्स जुत्तिबलेण विहडावेदुमसक्कियत्तादो। —ति०प० ७/६१३/७६६/३.
ण च सुत्तपडिकूलं वक्खाणं होदि, वक्खाणाभासहत्तादो। ण च जुत्तीए सुत्तस्स बाहा संभवदि सयलबाहादीदस्स सुत्तववएसादो। —ध० १२/४.२.१४/३८/४९४/१५.

## आधुनिक पुरुषों के द्वारा लिखित वचनों की प्रमाणता कब?

श्रुत के अनुसार व्याख्यान करने वाले आचार्यों या पुरुषों के वचन में प्रमाणता मानने में यद्यपि कोई विरोध नहीं है,[१] फिर भी इतना अवश्य है कि अतीन्द्रिय पदार्थों के विषय में अल्पज्ञों के द्वारा किए गए विकल्पों में विरोध सम्भावित हैं।[२] केवलज्ञान के विषयीभूत सभी पदार्थों में छद्मस्थों (अल्पज्ञों) के ज्ञान की प्रवृत्ति संभव नहीं है। अतः छद्मस्थों को यदि कोई अर्थ उपलब्ध नहीं होता है तो जिन-वचन में अप्रमाणता नहीं आती।[३] छद्मस्थों का ज्ञान प्रमाणता का मापदण्ड नहीं है। यदि छद्मस्थों का कथन राग, द्वेष और भ्रम से रहित आचार्य-परम्परा का अनुसरण करता हो, वीतरागता का जनक हो, अहिंसा का पोषक हो तथा रत्नत्रय के अनुकूल हो तो प्रामाणिक है, अन्यथा नहीं।[४] प्राचीन आचार्यों के कथन में यदि बाह्यरूप से विरोध दिखलाई पड़े तो स्याद्वाद-सिद्धान्त से उसका समन्वय कर लेना चाहिए, क्योंकि आगमों में कुछ कथन निश्चय-नयाश्रित हैं; कुछ विविध प्रकार के व्यवहारनयों के आश्रित हैं; कुछ उत्सर्ग-मार्गाश्रित हैं तो कुछ अपवादमार्गाश्रित हैं।

## पौरुषेयता अप्रमाणता का कारण नहीं, जैनागम कथंचित् अपौरुषेय तथा नित्य हैं

'अपौरुषेयता प्रमाणता का कारण है और पौरुषेयता अप्रमाणता का कारण है' ऐसा कथन सर्वथा असंगत है। अन्यथा चोरी आदि के उपदेश भी प्रामाणिक हो जायेंगे क्योंकि इनका कोई आदि उपदेष्टा ज्ञात नहीं है।[१] आगम अतीत काल में था, आज है तथा भविष्य में भी रहेगा। अतएव जैन-आगम कथंचित् नित्य हैं तथा वाच्य-वाचक भाव से, वर्ण-पद-पंक्तियों के द्वारा प्रवाहरूप से आने के कारण कथंचित् अपौरुषेय भी हैं।[२]

१. अप्रमाणमिदानींतनः आगमः आरातीयपुरुषव्याख्यातार्थत्वादिति चेन्न, ऐदंयुगीनज्ञान-विज्ञानसंपन्नतया प्राप्तप्रामाण्यैराचार्यैर्व्याख्यातार्थत्वात्। कथं छद्मस्थानां सत्यवादित्वमिति चेन्न, यथाश्रुतव्याख्यातॄणां तदविरोधात्। —ध० १/१.१.२२/१९७/१.

२. अदिंदिएसु पदत्थेसु छदुमत्थवियप्पाणमविसंवादणियमाभावादो। —ति०प० ७/६१३/पृ० ७६६.

३. न च केवलज्ञानविषयीकृतेष्वर्थेषु सकलेष्वपि रजोजुषां ज्ञानानि प्रवर्तन्ते येनानुपलम्भा-ज्जिनवचनस्याप्रमाणत्वमुच्येत। —ध० १३/५.५.१३७/३८९/२.

४. जिणउवदिट्ठत्तादो होदु दव्वागमोपमाणं, किन्तु अप्पमाणीभूदपुरिसपव्वोलीकमेण आगयत्तादो अप्पमाणं वट्टमाणकालदव्वागमो त्ति ण पच्छवट्ठादुं जुत्तं, रागदोसभयादीदआयरियपव्वोलीकमेण आगयस्स अप्पमाणत्तविरोहादो। —क० पा० १/१.१५/६४/८२.



## आगम में व्याकरणादि-विषयक भूल-सुधार कर सकते हैं, प्रयोजनभूत मूलतत्त्वों में नहीं

जैनागमों में शब्दों की अपेक्षा भावों का प्राधान्य माना गया है। अतः आचार्यों ने व्याकरणादि (लिङ्ग, वचन, क्रिया, कारक, सन्धि, समास, विशेष्य-विशेषण आदि) के दोष संशोधित करके भावार्थ ग्रहण करने की कामना की है।[३] परन्तु भावरूप मूलतत्त्वों में सुधार करने की अनुमति नहीं दी है।

## यथार्थज्ञान होने पर भूल को अवश्य सुधारें

यथार्थ का ज्ञान होने पर अपनी भूल को अवश्य सुधार लेना चाहिए। भूल को न सुधारने पर सम्यग्दृष्टि जीव भी उसी समय से मिथ्यादृष्टि हो जाता है।[४]

१. ततश्च पुरुषकृतित्वादप्रामाण्यं स्याद्।... न चापुरुषकृतित्वं प्रामाण्यकारणम्। चौर्याद्युपदेशस्यास्मर्यमाणकर्तृकस्य प्रामाण्यप्रसङ्गात्। अनित्यस्य च प्रत्यक्षादेः प्रामाण्ये को विरोधः। —रा०वा० १/२०/७/७१/३२.

२. अभूत इति भूतम्, भवतीति भव्यम्, भविष्यतीति भविष्यत्, अतीतानागत- वर्तमानकालेष्वस्तीत्यर्थः, एवं सत्यागमस्य नित्यत्वम्। सत्येवमागमस्यापौरुषेयत्वं प्रसजतीति चेत्, न वाच्यवाचकभावेन वर्ण-पद-पंक्तिभिश्च प्रवाहरूपेण चापौरुषेयत्वाभ्युपगमात्। —ध० १३/५.५.५०/२८६/२.

३. णियभावणाणिमित्तं मए कदं णियमसारणां सुदं।
णच्चा जिणोवदेसं पुव्वावरदोसविमुक्कं।। —नि०सा०१८७.
अस्मिन् लक्षणशास्त्रस्य विरुद्धं पदमस्ति चेत्, लुप्त्वा तत्कवयोः भद्राः कुर्वन्तु पदमुत्तमम्। —वही, क. ३१०.
लिङ्ग-वचन-क्रिया-कारक-संधि-समास-विशेष्यविशेषणवाक्यसमाप्त्यादिकं दूषणमत्र न ग्राह्यं विद्वद्भिरिति। —परमात्मप्रकाश २/२१४/३१६/२.
जं किं पि एत्थ भणियं अयाणमाणेण पवयणविरुद्धं।
खमिऊण पवयणधरा सोहित्ता तं पयासंतु।। —वसुनंदि श्रावकाचार ५४५.

४. सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा।। —ध० १/१.१.१३/११०/१७३.
सुत्तादो तं सम्मं दरिसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि।
सो चेय हवदि मिच्छाइट्ठी हु तदो पहुडि जीवो।। —ध०१/१.१.३७/१४३/२६२.

## पूर्वाचार्यों की निष्पक्ष दृष्टि

धवला में आया है – 'उक्त [ एक ही विषय में ] दो [ पृथक्-पृथक् ] उपदेशों में कौन-सा उपदेश यथार्थ है, इस विषय में एलाचार्य का शिष्य (वीरसेन स्वामी) अपनी जीभ नहीं चलाता क्योंकि इस विषय का कोई न तो उपदेश प्राप्त है और न दो में से एक में कोई बाधा उत्पन्न होती है, किन्तु दोनों में से कोई एक ही सत्य होना चाहिए। इसे जानकर कहना उचित है'।[१] इस तरह पूर्ववर्ती वीतरागी जैनाचार्यों की निष्पक्ष दृष्टि आज विशेषरूप से अनुकरणीय है। यदि कोई विषय आचार्य-परम्परा से स्पष्ट समझ में न आवे तो अपनी ओर से गलत व्यख्या नहीं करनी चाहिए।

## श्रुत का बहुत कम भाग लिपिबद्ध हुआ है, शेष नष्ट हो गया है

केवलज्ञान के विषयगोचर भावों का अनन्तवाँ भाग दिव्यध्वनि से कहने में आता है। जो दिव्यध्वनि का विषय होता है उसका भी अनन्तवाँ भाग द्वादशाङ्ग श्रुत में आता है।[२] अतएव बहुत-सी सूक्ष्म बातों का निवारण द्वादशाङ्ग श्रुत से नहीं कर सकते हैं। पूर्वाचार्यों ने सूत्र में स्पष्ट कहा है 'जो तत्त्व है वह वचनातीत है'। अतः द्वादशाङ्ग तथा अङ्गबाह्यरूप द्रव्यश्रुत मात्र स्थूलपदार्थों को विषय करता है।[३]

दिगम्बर जैनाचार्यों के अनुसार जैनागम तो लुप्त हो चुके हैं तथा उनकी जो विषयवस्तु ज्ञात थी वह भी बहुत कुछ नष्ट हो गई है। तिलोयपण्णत्तिकार ने कुछ ऐसी लुप्त-विषयवस्तुओं की सूचनायें दी हैं जो वहीं से देखना चाहिए।[४] वहीं यह भी आया है कि २०३१७ वर्षों में कालदोष से श्रुतविच्छिन्न हो जायेगा।[५]

१. दोसु वि उवएसेसु को एत्थं समंजसो, एत्थ ण बाहइ जिब्भमेलाइरियवच्छवो, अलद्धोवदेसत्तादो दोण्णमेक्कस्स बाहाणुवलंभादो। –ध. ९/४.१.४४/१२६/४.

२. पण्णवणिज्जाभावा अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं।
पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुदणिबद्धो।। –गो. जी. ३३४/७३१

३. वृद्धैः प्रोक्तमतः सूत्रे तत्त्वं वागतिशायि यत्।
द्वादशाङ्गाङ्गबाह्यं वा श्रुतं स्थूलार्थगोचरम्।। –पं.अ., उ. ६१६

४. तिलोयपण्णत्ति, अधिकार २, ४-८

५. बीस सहस्स तिसदा सत्तारस वच्छराणि सुदतित्थं।
धम्मपयट्टणहेदू वोच्छिस्सदि कालदोसेण।। –ति.प. ४/१४१३



## आगम की महिमा

पूर्व तथा अङ्गरूप भेदों में विभक्त यह श्रुतशास्त्र देवेन्द्रों और असुरेन्द्रों से पूजित है। अनन्तसुख के पिण्डरूप मोक्षफल से युक्त है। कर्ममल-विनाशक, पुण्य-पवित्र-शिवरूप, भद्ररूप, अनन्त अर्थों से युक्त, दिव्य, नित्य, कलिरूपकालुष्य-हर्ता, निकाचित (सुव्यवस्थित), अनुत्तर, विमल, सन्देहान्धकार-विनाशक, अनेक गुणों से युक्त, स्वर्ण-सोपान, मोक्ष-द्वार, सर्वज्ञ-मुखोद्भूत, पूर्वापरविरोधरहित, विशुद्ध, अक्षय तथा अनादिनिधन है।[१]

## आगम का अर्थ करने की पाँच विधियाँ

आगम के भावों को सही-सही जानने के लिए अर्थ करने की पाँच विधियाँ बतलाई गई हैं, जहाँ जिस विधि से जो अर्थ प्राप्त होता हो उसे उसी विधि से जानना चाहिए तथा स्याद्वाद-सिद्धान्तानुसार समन्वय करना चाहिए। पाँचों विधियों के नाम हैं– शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ और भावार्थ।[२] जैसे–

### *(क) शब्दार्थ (वाच्यार्थ)*

शब्द और अर्थ में क्रमशः वाचक और वाच्य शक्ति मानी जाती है। इसमें संकेतग्रह (किस शब्द का क्या अर्थ है, ऐसा ज्ञान) हो जाने पर शब्दों से पदार्थों का जो ज्ञान होता है वही 'शब्दार्थ' कहलाता है। भिन्न-भिन्न शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं। शब्द थोड़े हैं और अर्थ अनन्त हैं। शब्दों का अर्थ करते समय देश-काल आदि सन्दर्भों का ध्यान रखना आवश्यक है, अन्यथा अर्थ का अनर्थ हो सकता है। जैसे–

१. देवासुरिन्दमहियं अणंतसुहपिंडमोक्खफलपउरं।
कम्ममलपडलदलणं पुण्णपवित्तं सिवं भद्दं।। ८०
पुव्वंगभेदभिण्णं अणंत-अत्थेहिं संजुदं दिव्वं।
णिच्चं कलिकलुसहरं णिकाचिदमणुत्तरं विमलं।। ८१
संदेहतिमिरदलणं बहुविहगुणजुत्तं सग्गसोवाणं।
मोक्खग्गदारभूदं णिम्मलबुद्धिसंदोहं।। ८२।।
सव्वण्हुमुहविणिग्गयपुव्वावरदोसरहिदपरिसुद्धं।
अक्खमणादिणिहणं सुदणाणपमाणं णिद्दिट्ठं।। –ज. प. ८३

२. शब्दार्थव्याख्यानेन शब्दार्थो ज्ञातव्यः। व्यवहारनिश्चयरूपेण नयार्थो ज्ञातव्यः। सांख्यं प्रति मतार्थो ज्ञातव्यः। आगमार्थस्तु प्रसिद्धः। हेयोपादानव्याख्यानरूपेण भावार्थोऽपि ज्ञातव्यः। इति शब्दनयमतागम-भावार्थाः व्याख्यानकाले यथासंभवं सर्वत्र ज्ञातव्याः। –स.सा., ता.वृ. १२०/१७७

(१) **काल की अपेक्षा अर्थभेद –** जैनों की प्रायश्चित्त विधि में प्राचीनकाल में 'षड्गुरु' शब्द का अर्थ एक सौ अस्सी से अधिक उपवास था जो परवर्ती काल में तीन उपवासों में रूढ़ हो गया।[१] (२) **शास्त्र की अपेक्षा अर्थभेद**– पुराणों में द्वादशी शब्द से एकादशी; त्रिपुरार्णव शाक्त-ग्रन्थों में 'अलि' (भौंरा) शब्द से मदिरा, 'मैथुन' (सम्भोग) शब्द से घी तथा शहद अर्थ किये जाते हैं।[२] (३) **देश की अपेक्षा अर्थभेद**– 'चौर' (चोर) शब्द का दक्षिण में चावल ; 'कुमार' (युवराज) का पूर्व दिशा में आश्विनमास; 'कर्कटी' (ककड़ी) का कहीं-कहीं योनि अर्थ भी किया जाता है।[३]

### *(ख) नयार्थ (निश्चय-व्यवहारादि दृष्टि)*

जिस पदार्थ का प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा, नैगमादि अथवा निश्चय-व्यवहारादि नयों के द्वारा, नामादि निक्षेपों के द्वारा सूक्ष्म दृष्टि से चिन्तन नहीं किया गया है वह पदार्थ युक्त (सही) होते हुए भी कभी-कभी अयुक्त (असंगत)-सा प्रतीत होता है, और कभी-कभी अयुक्त होते हुए भी युक्त-सा प्रतीत होता है।[४] अतः नयादि की दृष्टि से ऊहापोह करके ही पदार्थ के स्वरूपादि का निर्णय करना चाहिए, तभी सही ज्ञान सम्भव है। इस विधि से एकान्तवादियों के एकान्तवाद का खण्डन किया जाता है।

### *(ग) मतार्थ (लेखक का अभिमत)*

समयसार तात्पर्यवृत्ति में कहा है–[५] 'सांख्यों के प्रति मतार्थ जानना चाहिए' इसका तात्पर्य है नित्यानित्यत्व, एकत्व-अनेकत्व आदि दोनों प्रकार के

१ प्राचीनकाले षड्गुरुशब्देन शतमशीत्यधिकमुपवासानामुच्यते स्म। साम्प्रतकाले तु तद्विपरीते तेनैव षड्गुरुशब्देन उपवासत्रयमेव संकेत्यते जीतकल्पव्यवहारानुसारात्।
–स्या॰मं॰ १४/१७८/३०

२. शास्त्रापेक्षया तु यथा पुराणेषु द्वादशीशब्देनैकादशी। त्रिपुरार्णवे च अलिशब्देन मदिराभिषिक्तं च, मैथुनशब्देन मधुसर्पिषोर्ग्रहणमित्यादि। –स्या॰ मं॰ १४/१७९/४.

३ चौर-शब्दोऽन्यत्र तस्करे रूढोऽपि दाक्षिणात्यानामोदने प्रसिद्धः,....योन्यादिवाचकाज्ञेयाः।
–स्या॰मं॰ १४/१७८/२.

४. नामादि-निक्षेपविधिनोपक्षिप्तानां जीवादीनां तत्त्वं प्रमाणाभ्यां नयैश्चाधिगम्यते।
–स॰सि॰ १/६/२०
प्रमाणनयनिक्षेपैर्योऽर्थो नाभिसमीक्ष्यते। युक्तं चायुक्तवद्भवति तस्यायुक्तं च युक्तवत्।
–ध॰ १/१.१.१/१०/१६ तथा ध॰ १/१.१.१/३/१०.

५. देखें, पृ॰ ४१, टि॰ २.



एकान्तवादियों के अभिप्राय के खण्डन करने के लिए 'मतार्थ' की योजना है। जिन आचार्यों ने सर्वथा एकत्व माना है उन्हीं के निराकरण में तात्पर्य है, न कि प्रमाणसम्मत कथंचित् एकत्व के निराकरण में तात्पर्य है।[१]

### *(घ) आगमार्थ*

'परमागम के साथ विरोध न हो' ऐसा अर्थ करना आगमार्थ है। इसके लिए आवश्यक है– (१) पूर्व-पर प्रकरणों का मिलान किया जाए, (२) आचार्य-परम्परा का ध्यान रखा जाए तथा (३) शब्द की अपेक्षा भाव का ग्रहण किया जाए।[२]

### *(ङ) भावार्थ*

हेय और उपादेय का सही ध्यान रखना ही भावार्थ है। कर्मोपाधिजनित मिथ्यात्व तथा रागादिरूप समस्त विभाव-परिणामों को छोड़कर निरुपाधिक केवलज्ञानादि गुणों से युक्त जो शुद्ध जीवास्तिकाय है उसी को निश्चयनय से उपादेय मानना चाहिए, यही भावार्थ है।[३]

## शास्त्रों और शास्त्रकारों का विभाजन

ऐतिहासिक संदर्भों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय की आचार्य-परम्परा का प्रारम्भ स्थूलभद्राचार्य से होता है और दिगम्बर सम्प्रदाय की आचार्य-परम्परा का प्रारम्भ श्रुतकेवली भद्रबाहु से होता है। दिगम्बर-परम्परा में आचार्यों ने गौतम गणधर द्वारा ग्रथित श्रुत का ही विवेचन किया है। विषयवस्तु वही है जो तीर्थङ्कर महावीर की दिव्यध्वनि से प्राप्त हुई थी। विभिन्न समयों में उत्पन्न होने वाले आचार्यों ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार नय-सापेक्ष कथन किया है। तथ्य एक समान होते हुए भी कथन-शैली में भिन्नता दृष्टिगोचर होती है।

१. ननु.. सर्वं वस्तु स्यादेकं स्यादनेकमिति कथं संगच्छते? सर्वस्य वस्तुनः केनापि रूपेणैकाभावात्।... पूर्वोदाहृतपूर्वाचार्यवचनानां च सर्वथैक्य-निराकरणपरत्वाद्, अन्यथा सत्ता-सामान्यस्य सर्वथानेकत्वे पृथक्त्वैकान्तपक्ष एवाहतस्स्यात्।
–सप्तभङ्गीतरङ्गिणी, ७७/ १

२. देखें, जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग १, पृ॰ २३०

३. कर्मोपाधिजनितमिथ्यात्वरागादिरूप-समस्तविभावपरिणामांस्त्यक्त्वा निरुपाधिकेवलज्ञानादि-गुणयुक्तशुद्ध-जीवास्तिकाय एव निश्चयनयेनोपादेयत्वेन भावयितव्यम् इति भावार्थः।
–पंचास्तिकाय, ता॰ वृ॰२७/६१ तथा वही ५२/१०१

इन आचार्यों के कथन में यदि कोई विरोध दिखलाई देवे तो पूर्व-पूर्ववर्ती आचार्यों के वचनों को प्रामाणिक मानना चाहिए क्योंकि वे मूल सिद्धान्तग्रन्थों अथवा उनके प्रतिपादक आचार्यों के अतिनिकट रहे हैं। शास्त्रों की प्रामाणिकता उसमें प्रतिपादित वीतराग-सिद्धान्त और अनेकान्त-सिद्धान्त से मानी जाती है।

**शास्त्रों के चार अनुयोग**– विषय-प्रतिपादन की प्रमुखता की दृष्टि से शास्त्र चार अनुयोगों में विभक्त हैं– १. **प्रथमानुयोग** (कथा, पुराण आदि से सम्बन्धित), २. **चरणानुयोग** (आचार विषयक), ३. **द्रव्यानुयोग** (जीवादि छः द्रव्यों से सम्बन्धित) और ४. **करणानुयोग** (लोकालोक-विभाग विषयक)।

**शास्त्रकारों का श्रुतधरादि पाँच श्रेणियों में विभाजन**– यहाँ जिन शास्त्रकारों का परिचय दिया जा रहा है उनमें कुछ के समय आदि के विषय में मतभेद है। यहाँ विद्वत् परिषद् से प्रकाशित 'तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा' नामक पुस्तक के क्रमानुसार शास्त्रकारों का परिचय दिया जा रहा है। पूज्यता की दृष्टि से डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य ने वहाँ जो पद्धति अपनाई है उसी पद्धति से यहाँ शास्त्रकारों का संक्षिप्त परिचय दिया जायेगा।[१] दिगम्बर आरातियों की परम्परा को निम्नलिखित पाँच श्रेणियों में विभक्त किया गया है–

१. **श्रुतधराचार्य**– श्रुत के धारक आचार्य। केवली और श्रुतकेवली की परम्परा से श्रुत के एक देश के ज्ञाता वे आचार्य जिन्होंने नष्ट होती हुई श्रुत-परम्परा को मूर्तरूप देकर युग-संस्थापन का कार्य किया है। इन्होंने सिद्धान्त-साहित्य, कर्मसाहित्य और अध्यात्म-साहित्य का प्रणयन किया है। यह परम्परा ई. सन् पूर्व की शताब्दियों से प्रारम्भ होकर ई. सन् ४-५ शताब्दी तक चलती रही।

२. **सारस्वताचार्य**– जो श्रुतधराचार्यों के समान श्रुत या श्रुत के एक देश (अंग और पूर्वग्रन्थों) के ज्ञाता तो नहीं थे परन्तु अपनी मौलिक प्रतिभा से मौलिक ग्रन्थ तथा टीका ग्रन्थ लिखकर साहित्य का प्रचार-प्रसार किया।

३. **प्रबुद्धाचार्य**– इनमें सारस्वताचार्यों की तरह सूक्ष्म निरूपण शक्ति नहीं थी। इस श्रेणी के आचार्य प्रायः कवि हैं। इन्होंने अपनी प्रतिभा से ग्रन्थ-प्रणयन के साथ विवृत्तियां और भाष्य आदि लिखे।

४. **परम्परा-पोषकाचार्य**– धर्मप्रचार और धर्मसंरक्षण इनका प्रमुख लक्ष्य था। इनमें भट्टारकों का प्रमुख योगदान रहा है। इन्होंने प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थों के आधार पर नवीन ग्रन्थ लिखे हैं।

१. देखें, प्रथम परिशिष्ट, पृ. १२२



५. **कवि और लेखक**– श्रुत-परम्परा के विकास में गृहस्थ लेखक और कवि प्रायः इसी श्रेणी में आते हैं।

**उपसंहार :**

जैन धर्म में सच्चे शास्त्र वे ही हैं जो वीतरागता के जनक हैं तथा सर्वज्ञ के द्वारा कहे गए हैं। सर्वज्ञ का कथन अर्थरूप होता है जिसे गणधर शब्दरूप में प्रस्तुत करते हैं। पश्चात् उनके वचनों का आश्रय लेकर प्रत्येकबुद्ध आदि विशिष्ट ज्ञानधारी निर्दोष आचार्यों के द्वारा कथित या लिखित शास्त्र भी सच्चे शास्त्र हैं।

यद्यपि दिगम्बराचार्यों के अनुसार गणधरप्रणीत मूल अङ्ग-ग्रन्थ कालदोष से आज लुप्त हो गए हैं परन्तु उनके वचनों का आश्रय लेकर लिखे गए कषायपाहुड, षट्खण्डागम, समयसार आदि कई ग्रन्थ आज भी उपलब्ध हैं। इनमें सर्वज्ञ के उपदेश के मूलभाव सुरक्षित हैं। जहाँ कहीं विरोध परिलक्षित होता है वहाँ स्याद्वाददृष्टि से समन्वय कर लेना चाहिए क्योंकि ऐसा ही आचार्यों का आदेश है। उनका कथन देश-काल आदि विभिन्न परिस्थितियों में हुआ है। अतएव नयदृष्टि से किए गए कथनों को देखकर एकान्तवादी नहीं होना चाहिए। कुछ कथन परिस्थितिवश अपवादमार्ग का आश्रय लेकर किए गए हैं उन्हें राजमार्ग (उत्सर्गमार्ग) नहीं समझना चाहिए।

इस तरह प्राचीन अङ्गादि ग्रन्थों के लुप्त होने पर भी उनके भावार्थ को दृष्टि में रखकर लिखे गए कई आगमग्रन्थ आज हमारे समक्ष हैं। वस्तुतः मूल आगम ग्रन्थों के भावार्थ को दृष्टि में रखकर लिखे गए परवर्तीशास्त्र भी सच्चे शास्त्र हैं, यदि वे आचार्यपरम्परा से आगत हों, वीतरागभाव से लिखे गए हों तथा वीतरागभाव के जनक भी हों। इसके अलावा यह भी अत्यन्त आवश्यक है कि अनेकान्तदृष्टि से सच्चे आगमों का अर्थ भी सही किया जाए, केवल शब्दार्थ पकड़कर मूल-भावना का गला न घोंटा जाए। किसी भी वस्तु का जब स्वाश्रित कथन किया जाता है तब उसे निश्चय-नयाश्रित कथन माना जाता है। जब पराश्रित कथन किया जाता है तब उसे व्यवहाराश्रित कथन माना जाता है और जब निमित्त के निमित्त में व्यवहार होता है तब उसे उपचार से व्यवहार कहा जाता है। इस तरह जिनवाणी स्याद्वादरूप है तथा प्रयोजनवश नय को मुख्य-गौण करके कहने वाली है। अतः जो कथन जिस अपेक्षा से हो उसे उसी अपेक्षा से जानना चाहिए।

जैनाचार्यों ने चारों अनुयोगों (द्रव्यानुयोग, करणानुयोग, प्रथमानुयोग और चरणानुयोग) पर पर्याप्त शास्त्र लिखे हैं जो प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी,

कन्नड़, तमिल, मराठी आदि विविध भाषाओं में हैं। सभी आचार्यों में श्रुतधराचार्यों और सारस्वत आचार्यों के ग्रन्थ अन्य की अपेक्षा अधिक मूल आगमग्रन्थों के निकट हैं तथा प्रामाणिक हैं। प्रथमानुयोग के ग्रन्थों में कथादि के माध्यम से मूलसिद्धान्तों को समझाया गया है। उनके काव्यग्रन्थ होने से उनमें अलंकारिक प्रयोग भी हैं। अतः यथार्थ पर ही दृष्टि होना चाहिए।

**अविरलशब्दघनौघा प्रक्षालितसकलभूतलमलकलङ्का ।**
**मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरुतान् ।।**

•

**यदीया वाग्गङ्गा विविधनयकल्लोलविमला**
**बृहज्ज्ञानाम्भोभिर्जगति जनतां या स्नपयति ।**
**इदानीमप्येषा बुधजनमरालैः परिचिता**
**महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु नः ।।**

●

तृतीय अध्याय

# गुरु (साधु)

## प्रस्तावना : 'गुरु' शब्द का अर्थ :

लोकव्यवहार में सामान्यतः अध्यापकों को 'गुरु' कहा जाता है। माता-पिता आदि को भी गुरु कहते हैं। लोक में कई तरह के गुरु देखने को मिलते हैं जिनका विचारणीय गुरु से दूर तक का भी सम्बन्ध नहीं है। वास्तव में 'गुरु' शब्द का अर्थ है 'महान्'। 'महान्' वही है जो अपने को कृतकृत्य करके दूसरों को कल्याणकारी मार्ग का दर्शन कराता है। जब तक व्यक्ति स्वयं वीतरागी नहीं होगा तब तक वह दूसरों को सदुपदेश नहीं दे सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि गुरु जब मुख से उपदेश देवे तभी गुरु है अपितु गुरु वह है जो मुख से उपदेश दिये बिना भी अपने जीवनदर्शन द्वारा दूसरों को सन्मार्ग में लगा देवे।

## परमगुरु

अर्हन्त (तीर्थङ्कर तथा अन्य जीवन्मुक्त) और सिद्ध भगवान् जो अपने अनन्त ज्ञानादि गुणों से तीनों लोकों में महान् हैं, वे ही 'त्रिलोकगुरु' या 'परमगुरु' कहे जाते हैं।[१] इनमें गुरु के रूप में तीर्थङ्करों का विशेष महत्त्व है क्योंकि उनका उपदेश हमें प्राप्त होता है। वे देवाधिदेव हैं तथा परमगुरु भी हैं।

## आचार्य, उपाध्याय और साधु गुरु हैं

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय के द्वारा जो महान् बन चुके हैं उन्हें 'गुरु' कहते हैं। ऐसे गुरु हैं, आचार्य, उपाध्याय और साधु, ये तीन परमेष्ठी।[२] पाँच महाव्रतों के धारी, मद का मन्थन करने वाले तथा क्रोध-

---

१. अनन्तज्ञानादिगुरुगुणैस्त्रैलोकस्यापि गुरुस्तं त्रिलोकगुरुं तमित्थं भूतं भगवन्तं...।
—प्र॰ सा॰, ता॰ वृ॰ ७९ प्रक्षेपक गाथा २/१००/२४

अर्थाद् गुरुः स एवास्ति श्रेयोमार्गोपदेशकः।

भगवांस्तु यतः साक्षान्नेता मोक्षस्य वर्त्मनः। —पं॰ अ॰, उ॰ ६२०

२. सुस्सूसया गुरूणं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैर्गुरुतया गुरव इत्युच्यन्ते आचार्योपाध्यायसाधवः।
—भ॰ आ॰/वि॰/३००/५११/१३

लोभ-भय का त्याग करने वाले गुरु कहे जाते है।[१] आचार्य आदि तीनों परमेष्ठी गुरु श्रेणी में आते हैं।

सिद्ध तथा अर्हन्त अवस्था को प्राप्त करने से पूर्व सभी मुनि (छठे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनि) गुरु कहलाते हैं क्योंकि ये सभी मुनि नैगम नय की अपेक्षा से अर्हन्त तथा सिद्ध अवस्थाविशेष को धारण कर सकते हैं। देवस्थानीय अर्हन्त और सिद्ध को छोड़कर गुरु का यद्यपि सामान्यरूप से एक ही प्रकार है परन्तु विशेष अपेक्षा से वह तीन प्रकार का है— आचार्य, उपाध्याय और साधु। जैसे अग्नित्व सामान्य से अग्नि एक प्रकार की होकर भी तृणाग्नि, पत्राग्नि, काष्ठाग्नि आदि भेद वाली होती है।[२] प्रस्तुत अध्याय में इन तीनों प्रकार के गुरुओं की अभेदरूप से तथा पृथक् पृथक् विवेचना की जायेगी।

## संयमी साधु से भिन्न की गुरु संज्ञा नहीं

विषयभोगों में जिनकी आसक्ति है तथा जो परिग्रह को धारण करते हैं वे संसार में उलझे रहने के कारण गुरु नहीं हो सकते, क्योंकि जो स्वयं का उद्धार नहीं कर सकते हैं वे अन्य का उद्धार कैसे कर सकते हैं?[३] अतएव असंयत मिथ्यादृष्टि साधु वन्दनीय नहीं हैं।[४] जो मोहवश अथवा प्रमादवश जितने काल तक लौकिक-क्रियाओं को करता है वह उतने काल तक आचार्य (गुरु) नहीं है

---

१. पञ्चमहाव्रतकलितो मदमथनः क्रोधलोभभयत्यक्तः।
एष गुरुरिति भण्यते तस्माज्जानीहि उपदेशम्।। –ज्ञानसार ५

२. तेभ्योऽर्वागपि छद्मस्थरूपास्तद्रूपधारिणः।
गुरवः स्युर्गुरोर्न्यायान्नान्योऽवस्थाविशेषभाक्।। ६२१
अथास्त्येकः स सामान्यात्सद्विशेष्यस्त्रिधा मतः।
एकोऽप्यग्निर्यथा तार्ण्यः पार्ण्यो दार्व्यस्त्रिधोच्यते।। ६३७
आचार्यः स्यादुपाध्यायः साधुश्चेति त्रिधा मतः।
स्युर्विशिष्टपदारूढास्त्रयोऽपि मुनिकुञ्जराः।। –पं॰अ॰,उ॰ ६३८

३. रत्नकरण्ड-श्रावकाचार, टीका (पं॰ सदासुखदास) १/१०

४. तं सोऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो।। –दर्शनपाहुड,२
असंजदं ण वंदे वच्छविहीणो वि तो ण वंदिज्ज।
दोण्णि वि होंति समाणा एगो वि ण संजदो होदि।। –दर्शनपाहुड, २६
कुलिङ्गिनः कुदेवाश्च न वन्द्यास्तेऽपि संयतैः। –अन॰ध॰ ७/५२



तथा अन्तरङ्ग में व्रतों से भी च्युत है।[१] इस तरह मिथ्यादृष्टि और सदोष साधु गुरु कहलाने के योग्य नहीं हैं।

जो ज्ञानवान् तथा उत्तम चारित्रधारी हैं उन गुरुओं के वचन सन्देहरहित होने से ग्राह्य हैं। जो ज्ञानवान् और उत्तम चारित्रधारी नहीं हैं उनके वचन सन्देहास्पद होने से स्वीकार के योग्य नहीं हैं।[२] जो तप, शील, संयमादि को धारण करने वाले हैं वे ही साक्षात् गुरु हैं तथा नमस्कार करने के योग्य हैं, इनसे भिन्न नहीं।[३]

## निश्चय से अपना शुद्ध आत्मा ही गुरु है

'गुरु' का अर्थ है जो तारे = भवसागर से पार लगाये। निश्चय से अपना आत्मा ही स्वयं को तारता है; अर्हन्तादि उसमें निमित्त हैं। इस तरह उपादान कारण की दृष्टि से अपना शुद्ध-आत्मा ही गुरु है। जैसा कि कहा है—

(क) 'अपना आत्मा ही गुरु है क्योंकि वही सदा मोक्ष की अभिलाषा करता है, मोक्षसुख का ज्ञान करता है तथा उसकी प्राप्ति में अपने को लगाता है।[४]

(ख) आत्मा ही [देहादि में ममत्व के कारण] जन्म-मरण को तथा [ममत्वत्याग के कारण] निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त करता है। अतः निश्चय (परमार्थ) से आत्मा का गुरु आत्मा ही है, अन्य नहीं।[५] अर्हन्त, आचार्य आदि सम्यग्दर्शन में निमित्त होने से व्यवहार नय से गुरु हैं। यहाँ ऐसे गुरुओं का ही विचार अपेक्षित है, अन्यथा आत्मस्वरूप को पहचानना कठिन है।

(ग) यह आत्मा अपने ही द्वारा संसार या मोक्ष को करता है। अतएव स्वयं ही अपना शत्रु और गुरु भी है।[६]

---

१. यद्वा मोहात्प्रमादाद्वा कुर्याद्यो लौकिकीं क्रियाम्।
तावत्कालं स नाचार्योऽप्यस्ति चान्तर्व्रताच्च्युतः।। –पं॰ अ॰ उ॰ ६५७

२. ये ज्ञानिनश्चारुचारित्रभाजो ग्राह्या गुरूणां वचनेन तेषाम्।
संदेहमत्यस्य बुधेन धर्मो विकल्पनीयं वचनं परेषाम्।। –अमितगति श्रावका॰ १.४३

३. इत्युक्तव्रततपःशीलसंयमादिधरो गणी।
नमस्यः स गुरुः साक्षादन्यो न तु गुरुर्गणी।। –पं॰अ॰, उ॰ ६५८

४. स्वस्मिन् सदाभिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वतः।
स्वयं हि प्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः।। –इष्टोपदेश ३४

५. नयत्यात्मानमात्मैव जन्म निर्वाणमेव च।
गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः।। –समाधि-शतक ७५

६. आत्मात्मना भवं मोक्षमात्मनः कुरुते यतः।
अतो रिपुर्गुरुश्चायमात्मैव स्फुटमात्मनः ।। –ज्ञानार्णव ३२/८१

(घ) अत्मा का शुद्ध-भाव ही निर्जरादि में कारण है, वही परमपूज्य है और केवल वही आत्मा गुरु है।[१]

## क्या साधु से भिन्न ऐलकादि श्रावकों को गुरु माना जा सकता है?

पहले कहा जा चुका है कि साधु (मुनि) परमेष्ठी से नीचे का कोई भी व्यक्ति गुरु नहीं माना जा सकता है। श्रावक की ११ प्रतिमाओं[२] में से ७वीं प्रतिमाधारी ब्रह्मचारी एवं ग्यारहवीं प्रतिमाधारी (उद्दिष्ट-विरत) क्षुल्लक (एक वस्त्र धारण करने वाला) तथा ऐलक (एकमात्र लंगोटी रखने वाला) भी गुरुसंज्ञक नहीं हैं क्योंकि वे श्रावक की श्रेणी में ही हैं। इसके बाद मुनिदीक्षा लेने पर ही गुरुसंज्ञा प्राप्त होती है। लोकाचार की दृष्टि से विशेष प्रसङ्ग में साधुभिन्न श्रावक को भी गुरु कहा जाता है। इस संदर्भ में हरिवंशपुराण में एक कथा आई है– 'एक समय रत्नद्वीप में चारण मुनिराज के पास चारुदत्त श्रावक और दो विद्याधर बैठे हुए थे। उसी समय दो देव स्वर्गलोक से आए और उन्होंने मुनि को छोड़कर पहले चारुदत्त श्रावक को नमस्कार किया। वहाँ बैठे हुए दोनों विद्याधरों ने आगत देवों से इस नमस्कार के व्युत्क्रम का कारण पूछा। इसके उत्तर में देवों नें कहा 'चारुदत्त ने हम दोनों को बकरा योनि में जिनधर्म का उपदेश दिया था जिसके फलस्वरूप हमारा कल्याण हुआ है। अतएव ये हम दोनों के साक्षात् गुरु हैं'।[३] महापुराण में भी इसी प्रकार का एक अन्य उद्धरण मिलता है, जैसे–

१. निर्जरादिनिदानं य शुद्धो भावश्चिदात्मनः।
परमार्हः स एवास्ति तद्वानात्मा परं गुरुः।। –पं० अ०, उ० ६२८

२. **श्रावक की क्रमशः ११ प्रतिमायें हैं जो उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं**— १. दार्शनिक, २. व्रतिक, ३. सामयिकी, ४. प्रोषधोपवासी, ५. सचित्तविरत, ६. दिवामैथुनविरत, ७. अब्रह्मविरत (पूर्ण ब्रह्मचर्य), ८. आरम्भविरत, ९. परिग्रहविरत, १०. अनुमतिविरत और ११. उद्दिष्टविरत (क्षुल्लक और ऐलक अवस्था)। किसी भी प्रतिमा (नियम) के लेने पर उससे पूर्ववर्ती प्रतिमा का पालन अनिवार्य है। –द्र०सं०, टीका ४५/१९५/५.

३. अक्रमस्य तदा हेतुं खेचरौ पर्यपृच्छताम्।
देवावृषिमतिक्रम्य प्राग्नतौ श्रावकं कुतः।
त्रिदशावूचतुर्हेतुं जिनधर्मोपदेशकः।
चारुदत्तो गुरुः साक्षादावयोरिति बुध्यताम्।।
तत्कथं कथमित्युक्ते छागपूर्वः सुरोऽभणीत।
श्रूयतां मे कथा तावत् कथ्यते खेचरो स्फुटम्।। –हरिवंशपुराण, २१/१२८-१३१



'महाबल के भव में भी वे मेरे स्वयंबुद्ध (मन्त्री के रूप में) गुरु थे। आज इस भव में भी सम्यग्दर्शन देकर [प्रीतंकर मुनिराज के रूप में] विशेष गुरु हुए हैं।'[१]

इन दो उद्धरणों से ज्ञात होता है कि विशेष परिस्थितियों में व्यवहार से सम्यग्दर्शन-प्राप्ति में निमित्तभूत अणुव्रती श्रावक को गुरु कहा जा सकता है,[२] परन्तु अव्रती मिथ्यादृष्टि को कदापि गुरु नहीं कहा जा सकता है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि सदोष साधु भी गुरु नहीं हो सकता है।

## आचार्य, उपाध्याय और साधु इन तीनों में गुरुपना = मुनिपना समान है

विशेष व्यवस्था को छोड़कर आचार्य, उपाध्याय और साधु इन तीनों में मुनिपना समान होने से उनमें परमार्थतः कोई भेद नहीं है, क्योंकि मुनि बनने का कारण एक समान है, बाह्यवेष एकसा है, तप, व्रत, चारित्र, समता, मूलगुण, उत्तरगुण, संयम, परीषहजय, उपसर्गजय, आहारादिविधि, चर्या-स्थान, आसन, आदि सभी कुछ एकसा है।[३] इस तरह से तीनों यद्यपि समान रूप से दिगम्बर मुनि हैं, परन्तु मुनिसंघ की व्यवस्था-हेतु दीक्षाकाल आदि के अनुसार इनके कार्यों का विभाजन किया जाता है। जैसे– कोई मुनिसंघ का कुलपति (आचार्य) होता है जिसे 'दीक्षागुरु' भी कहा जाता है। कोई 'शिक्षागुरु' (श्रुतगुरु) होता है जो शास्त्रों का अध्यापन आदि कराता है, जिसे 'उपाध्याय' कहते हैं। कोई 'निर्यापकाचार्य' होता है जो समाधिमरण के इच्छुक साधु की साधना कराता है। छेदोपस्थापना कराने

१. महाबलभवेऽप्यासीत् स्वयंबुद्धो गुरुः स नः।
वितीर्य दर्शनं सम्यगधुना तु विशेषतः।। –महापुराण ९/१७२

२. पंचाध्यायी, उ० ६४८

३. एको हेतुः क्रियाऽप्येका वेषश्चैको बहिः समः।
तपो द्वादशधा, चैकं, व्रतं चैकं च पञ्चधा।। ६३९
त्रयोदशविधं चैकं चारित्रं समनैकधा।
मूलोत्तरगुणाश्चैके संयमोऽप्येकधा मतः।। ६४०
परीषहोपसर्गाणां सहनं च समं स्मृतम्।
आहारादिविधिश्चैकश्चर्यास्थानासनादयः।। ६४१
मार्गो मोक्षस्य सद्दृष्टिर्ज्ञानं चारित्रमात्मनः।
रत्नत्रयं समं तेषामपि चान्तर्बहिस्थितम्।। ६४२
ध्याता ध्यानं च ध्येयं च ज्ञाता ज्ञानं च ज्ञेयसात्।
चतुर्धाऽऽराधना चापि तुल्या क्रोधादिजिष्णुता।। –पं० अ० ६४३

वाले को भी निर्यापकाचार्य कहते हैं। जो आचार्य तो नहीं है, परन्तु विशेष परिस्थितियों में आचार्य के कार्यों को करता है उसे 'एलाचार्य' कहते हैं। इसी तरह कार्यानुसार साधुओं में पदगत भेद किया जाता है किन्तु वास्तविक भेद नहीं है।

साधुओं के सामान्य स्वरूप के पूर्व उनके पदगत परिचय को अल्पविषय होने से प्रथमतः दे रहे हैं–

**आचार्य**

साधु बनने के इच्छुक लोगों का परीक्षण करके उन्हें दीक्षा देने वाला, उनको शिक्षा देने वाला, उनके दोषों का निवारण करने वाला तथा अन्य अनेक गुणों से विशिष्ट संघनायक साधु आचार्य कहलाता है। लोक में गृहस्थों के धर्मकर्मसम्बन्धी विधि-विधानों को कराने वाले गृहस्थाचार्य तथा पूजा-प्रतिष्ठा आदि को कराने वाले प्रतिष्ठाचार्य[१] यहाँ अभीष्ट नहीं हैं, क्योंकि वे गृहस्थ हैं, मुनि नहीं। साधुरूपधारी आचार्य ही गुरु हैं और वही पूज्य हैं, अन्य नहीं।

**सामान्य स्वरूप**

आचार्य पद पर प्रतिष्ठित साधु पाँच प्रकार के आचार (दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य) का स्वयं निरतिचार पालन करता है, अन्य साधुओं से उस आचार का पालन करवाता है, दीक्षा देता है, व्रतभंग होने पर प्रायश्चित्त कराता है।[२] इस

१. देसकुलजाइसुद्धो णिरुवम-अंगो विसुद्धसम्मत्ते।
पढमाणिओयकुसलो पईट्ठालक्खणविहिविदण्णू।।
सावयगुणोववेदी उवासयज्झयणसत्थथिरबुद्धि।
एवं गुणो पइट्ठाइरिओ जिणसासणे भणिओ।। –वसुनंदि-श्रावकाचार ३८८, ३८९

अर्थ– जो देश-कुल-जाति से शुद्ध हो, निरुपम अंग का धारक हो, विशुद्ध सम्यग्दृष्टि हो, प्रथमानुयोग में कुशल हो, प्रतिष्ठा की लक्षण-विधि का ज्ञाता हो, श्रावक के गुणों से युक्त हो तथा जो उपासकाध्ययन (श्रावकाचार) शास्त्र में स्थिरबुद्धि हो वही जिनशासन में 'प्रतिष्ठाचार्य' कहा गया है।

२. आयारं पञ्चविहं चरदि चरावेदि जो णिरदिचारं।
उवदिसदि य आयारं एसो आयारवं णाम।। –भ० आ० ४१९
सदा आयारविद्दण्हू सदा आयरियं चरे।
आयारमायारवंतो आयरिओ तेण उच्चदे।।
जम्हा पञ्चविहाचारं आचरंतो पभासदि।
आयरियाणि देसंतो आयरिओ तेण उच्चदे।। –मू० आ० ५०९-५१०



प्रकार आचार्य साधुसंघ का प्रमुख होता है और आत्मसाधना के कार्यों में सदा सावधान रहता है। संघ-संचालन का कार्य वह कर्तव्य समझ कर करता है, उसमें विशेष रुचि नहीं रखता। जब कोई व्रती अपने आत्मिक कार्यों में प्रमादी होने लगता है तो वह उसे आदेश पूर्वक प्रमाद छोड़ने को कहता है। अव्रती को कोई आदेश नहीं करता। यद्यपि उपदेश सभी को देता है, फिर भी न तो हिंसाकारी आदेश करता है और न उपदेश।[१] गौणरूप से दान-पूजा आदि का उपदेश दे सकता है।[२] आस्रव के कारणभूत सभी प्रकार के उपदेशों से वह अपने को बचाता है। असंयमी पुरुषों के साथ सम्भाषण आदि कभी नहीं करता, क्योंकि जो ऐसा करता है वह न तो आचार्य हो सकता है और न अर्हन्तमत का अनुयायी।[३]

'आचार्य संघ का पालन-पोषण करता है' ऐसा कथन मिथ्या है, क्योंकि मुनिजीवन भरण-पोषण आदि के भार से सर्वथा मुक्त होता है। आचार्य धर्म के आदेश और उपदेश के सिवा अन्य कार्य नहीं करता है[४] और यदि वह मोह या प्रमादवश लौकिकी-क्रियाओं को करता है तो वह उतने काल तक न तो आचार्य है और न व्रती।[५]

पंचविधमाचारं चरन्ति चारयतीत्याचार्याः। –ध० १/१.१.१/४८/८
पञ्चस्वाचारेषु ये वर्तन्ते परांश्च वर्तयन्ति ते आचार्याः।–भ० आ०, वि० ४६/१५४/१२
पञ्चाचारं परेभ्यः स आचारयति संयमी।।
अपि छिन्ने व्रते साधोः पुनः सन्धानमिच्छतः।
तत्समादेशदानेन प्रायश्चित्तं प्रयच्छति। –पं० अ०, उ० ६४५, ६४६.

१. न निषिद्धस्तदादेशो गृहिणां व्रतधारिणाम्।
दीक्षाचार्येण दीक्षेव दीयमानास्ति तत्क्रिया।।
स निषिद्धो यथाम्नायादव्रतिनां मनागपि।
हिंसकश्चोपदेशोऽपि नोपयुज्योऽत्र कारणात्।।
मुनिव्रतधराणां वा गृहस्थव्रतधारिणाम्।
आदेशश्चोपदेशो वा न कर्तव्यो वधाश्रितः। –पं० आ०, उ० ६४८-६५०
यद्वादेशोपदेशौ स्तो तौ द्वौ निरवद्यकर्मणि।
यत्र सावद्यलेशोऽस्ति तत्रादेशो न जातुचित्।। –पं० अ०, उ० ६५४

२. न निषिद्धः स आदेशो नोपदेशो निषेधितः।
नूनं सत्पात्रदानेषु पूजायामर्हतामपि।। –पं० अ०, उ० ६५३

३. सहासंयमिभिर्लोकैः संसर्गं भाषणं रतिम्।
कुर्यादाचार्य इत्येके नासौ सूरिर्न चार्हतः।। –पं. अ०, उ० ६५५

४. संघसंपोषकः सूरिः प्रोक्तः कैश्चिन्मतेरिह।
धर्मोपदेशोपदेशाभ्यां नोपकारोऽपरोऽस्त्यतः।। –पं० अ०, उ० ६५६

५. देखें, पृ. ४७ टि० १.

आचार्य धीर, गम्भीर, निष्कम्प, निर्भीक, सौम्य, निर्लेप तथा शूरवीर होते हैं। पञ्चेन्द्रियरूपी हाथी के मद का दलन करने वाले, चौदह विद्यास्थानों में पारंगत, स्वसमय-परसमय के ज्ञाता और आचाराङ्ग आदि अङ्गग्रन्थों के विज्ञाता होते हैं। प्रवचनरूपी समुद्रजल में स्नान करने से निर्मल बुद्धि वाले होते हैं।[1] ऐसे आचार्य ही साक्षात् गुरु हैं तथा नमस्कार करने के योग्य हैं। इनसे भिन्न स्वरूप वाले न तो आचार्य (संघपति) हैं और न गुरु।[2]

### आचार्य के छत्तीस गुण

आचार्य के छत्तीस गुण कौन-कौन हैं? इस विषय में पूर्ण एकरूपता नहीं है। आचार्य मूलतः साधु है, अतः कुछ गुण ऐसे हैं जो एक सामान्य साधु में होना अनिवार्य हैं। जैसे– आठ आचारवत्व आदि, दस स्थितिकल्प, बारह तप और छह आवश्यक— ये आचार्य के छत्तीस गुण हैं।[3] अपराजितसूरि के अनुसार आठ

१. पंचाचारसमग्गा पंचिदियदंतिदप्पणिद्दलणा।
धीरा गुणगम्भीरा आयरिया एरिसा होंति।। –नि॰ सा॰ ७३
पवयणजलहि-जलोयर-ण्हायामलबुद्धिसुद्धछावासो।
मेरुव्व णिप्पकंपो सूरो पंचाणणो वण्णो।।
देसकुलजाइसुद्धो सोमङ्गो संग-संग उम्मुक्को।
गयणव्व णिरूवलेवो आयरिओ एरिसो होइ।।
संगह-णिग्गहकुसलो सुत्तत्थ विसारिओ पहियकित्ती।
सारण-वारण-साहण-किरियुज्जुत्तो हु आयरिओ ।। -ध॰ १/१.१.१/२९-३१
चतुर्दशविद्यास्थानपारगाः एकादशाङ्गधराः। आचाराङ्गधरो वा। तात्कालिक-स्वसमय-परसमय-पारगो वा मेरुरिव निश्चलः, क्षितिरिव सहिष्णुः। सागर इव बहिर्क्षिप्तमलः सप्तभयविप्रमुक्तः आचार्यः।-ध॰, १/१.१.१/४८/८ तथा देखिए, मूलाचार १५८, १५९

२. उक्तव्रततपःशीलसंयमादिधरो गणी।
नमस्यः स गुरुः साक्षात्तदन्यो न गुरुर्गणी।। –पं॰ अ॰, उ॰ ६५८

३. आयारवमादीया अट्ठगुणा दसविधो य ठिदिकप्पो।
बारस तव छावासय छत्तीस गुणा मुणेयव्वा।। –भ॰ आ॰ ५२८
आचारवान् श्रुताधारः प्रायश्चित्तासनादिदः।
आयापायकथी दोषाभाषकोऽश्रावकोऽपि च।।
सन्तोषकारी साधूनां निर्यापक इमेऽष्ट च।
दिगम्बरोऽप्यनुद्दिष्टभोजी शय्यासनीति च।।
आरोगभुक् क्रियायुक्तो व्रतवान् ज्येष्ठसद्गुणः।
प्रतिक्रमी च षण्मासयोगी च तद्द्विनिषद्यकः।।



ज्ञानाचार, आठ दर्शनाचार, बारह तप, पाँच समिति तथा तीन गुप्ति, ये आचार्य के छत्तीस गुण हैं।[1] अन्यत्र अट्ठाईस मूलगुण तथा आचारवत्व आदि आठ गुणों को; कहीं दश आलोचना, दश प्रायश्चित्त, दश स्थिति और छै जीतगुणों को; कहीं बारह तप, छै आवश्यक, पाँच आचार, दश धर्म और तीन गुप्तियों को आचार्य के छत्तीस गुण बतलाये हैं।[2]

### आचारवत्व आदि आठ गुण[3]

१. आचारवत्व (पाँच प्रकार के आचार का स्वयं पालन करना तथा दूसरों से पालन करवाना), २. आधारवत्व (श्रुताधार=श्रुत का असाधारण ज्ञान), ३. व्यवहारपटु (प्रायश्चित्त वेत्ता), ४. प्रकुर्वित्व (समाधिमरण आदि कराने में कुशल), ५. आयापायकथी (गुण-दोष बताने में कुशल), ६. उत्पीलक (अवव्रीडक= दोषाभाषक), ७. अपरिस्रावी (श्रमणों के गोप्यदोषों को दूसरों पर प्रकट न करने वाला), और ८. सुखावह या संतोषकारी निर्यापक (निर्यापकाचार्य के गुणों वाला)— ये आचार्य के आचारवत्व आदि आठ गुण हैं।

### दस स्थिति-कल्प[4]

१. आचेलक्य (दिगम्बर), २. अनुद्दिष्टभोजी, ३. शय्यासनत्याग, ४. राजपिण्डत्याग (राजाओं के भोजन का त्याग) या आरोगभुक् (ऐसा भोजन

द्वि षट्तपास्तथा षट्चावश्यकानि गुणा गुरोः।। –बो॰ पा॰, टीका १/७२ में उद्धृत।
अष्टावाचारवत्वाद्यास्तपांसि द्वादशास्थितेः।
कल्पा दशाऽवश्यकानि षट् षट्त्रिंशद्गुणा गणेः।। –अन॰ ध॰९/७६

१. अष्टौ ज्ञानाचाराः दर्शनाचाराश्चाष्टौ तपो द्वादशविधं पंच समितयः तिस्रो गुप्तयश्च षट्त्रिंशद्गुणाः। –भ॰ आ॰, विजयोदया टीका ५२८

२. मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. ३६१-३६२ तथा रत्नकरण्डश्रावकाचार ५, सदासुखकृत षोडशकारणभावना में आचार्य-भक्ति।

३. आयारवं च आधारवं च ववहारवं पकुव्वीय।
आयावायवीदंसी तहेव उप्पीलगो चेव।। ४१७
अपरिस्साई णिव्वावओ य णिज्जावओ पहिदकित्ति।
णिज्जावणगुणोवेदो एरिसओ होदि आयरिओ ।। –भ॰ आ॰ ४१८
तथा देखें, पृ. ५४, टि॰ ३.

४. आचेलक्कुद्देसिय-सेज्जाहर-रायपिंड-किरियम्मे।
जेट्ठ पडिक्कमणे वि य मासं पज्जो सवणकप्पो। –भ.आ॰ ४२१
तथा देखें, पृ. ५४, टि. ३.

जिससे स्वस्थ रहे, बीमार न पड़े), ५. कृतिकर्म (साधु की विनयादि क्रिया), ६. व्रतवान्, ७. ज्येष्ठ सद्गुण, ८. प्रतिक्रमी या प्रतिक्रमणी (नित्य लगने वाले दोषों का शोधन), ९. मासस्थिति (मासैकवासता या षण्मासयोगी) और १०. पद्य या दो निषद्यक (वर्षाकाल में चार मास पर्यन्त एक स्थान पर निवास)– ये आचार्य के दश स्थितिकल्प बतलाए गए हैं।

### बारह तप

१. अनशन, २. अवमोदर्य (भूख से कम खाना), ३. रसपरित्याग, ४. वृत्तिपरिसंख्यान (भिक्षाचर्या=भोजनादि के समय गृह, पात्र आदि का अभिग्रह या संकल्प लेना), ५. कायक्लेश (आतापनादि से शरीर को परिताप देना), ६. विविक्तशयनासन (एकान्त निर्जन स्थान में रहना), ७. प्रायश्चित्त (अपराध-प्रमार्जन), ८. विनय (गुरुजनों का आदर तथा दर्शन-ज्ञान आदि में बहुमान), ९. वैयावृत्य (गुरु आदि की परिचर्या), १०. स्वाध्याय, ११. ध्यान (चित्तवृत्ति-निरोध) और १२. व्युत्सर्ग (त्याग, निःसंगता, अनासक्ति)। इनमें प्रथम छः बाह्य-तप कहलाते हैं और अन्तिम छः आभ्यन्तर-तप। ये बारह तप सभी साधुओं के लिए यथाशक्ति अवश्य करणीय हैं। इनमें आभ्यन्तर तपों की प्रधानता है।

### छह आवश्यक

१. सामायिक (समता), २. चतुर्विंशतिस्तव, ३. वन्दना, ४. प्रतिक्रमण (पाप-प्रक्षालन), ५. प्रत्याख्यान (अशुभ-प्रवृत्तियों का त्याग) और ६. कायोत्सर्ग (शरीर से ममत्वत्याग)— ये छह आवश्यक सभी साधुओं को प्रतिदिन करणीय हैं।

आचार्य के अन्य गुणों की चर्चा साधु के मूलगुण- उत्तरगुण-प्रकरण में करेंगे क्योंकि आचार्य मूलतः साधु है, अतएव उसमें साधु के सामान्य गुणों का होना आवश्यक है।

### आचार्य 'दीक्षागुरु' के रूप में

जब कोई व्यक्ति साधु बनकर साधु-संघ में आना चाहता है तो आचार्य प्रथमतः उसकी परीक्षा करके यह पता लगाते हैं कि वह साधु बनने की योग्यता रखता है या नहीं। इसके बाद अनुकूलता देखकर साधु बनने वाले के माता-पिता आदि की तथा अन्य व्यक्तियों की सम्मति लेकर आचार्य उसे दीक्षा देते हैं। दीक्षा देने के कारण उसे 'दीक्षागुरु' कहते हैं। जैसा कि कहा है–



लिङ्ग-धारण (मुनि-दीक्षा) करते समय जो निर्विकल्प सामायिक संयम का प्रतिपादन करके शिष्य को प्रव्रज्या देते हैं वे आचार्य 'दीक्षागुरु' कहलाते हैं।[१] दीक्षागुरु ज्ञानी और सही अर्थों में वीतरागी होना चाहिए। यदि ऐसा दीक्षागुरु नहीं होगा तो उससे अभीष्ट मोक्ष फल नहीं मिलेगा। शुद्धात्मा के उपदेश से शून्य अज्ञानी छद्मस्थों से जो दीक्षा लेते हैं वे पुण्यादि का फल तो प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूप मोक्ष नहीं प्राप्त करते। अतएव सही दीक्षागुरु से ही दीक्षा लेनी चाहिए।[२]

### आर्यिकाओं का गणधर आचार्य कैसा हो?

उत्तम क्षमादि-धर्मप्रिय, दृढ़धर्मा, धर्महर्षी, पापभीरु, सर्वतःशुद्ध (अखण्डित आचरणयुक्त), उपकारकुशल, हितोपदेशी, गम्भीर, परवादियों से न दबने वाला, मितभाषी, अल्पविस्मयी, चिरदीक्षित तथा आचार-प्रायश्चित्तादि ग्रन्थों का ज्ञाता आचार्य आर्यिकाओं का गणधर होता है।[३] यदि आचार्य इन गुणों से युक्त न होगा तो गच्छ आदि की विराधना होगी।

### बालाचार्य

असाध्य रोगादि को देखकर जब आचार्य अपनी आयु की अल्पता का अनुभव करता है तो अपने शिष्यों में से अपने समानगुण वाले किसी योग्यतम

---

१. लिंगग्गहणे तेसिं गुरु त्ति पव्वज्जदायगो होदि। –प्र॰ सा॰ २१०
लिङ्गग्रहणकाले निर्विकल्पसामायिकसंयमप्रतिपादकत्वेन यः किलाचार्यः प्रव्रज्यादायकः स गुरुः। –प्र॰ सा॰, त॰ प्र॰ २१०
योऽसौ प्रव्रज्यादायकः स एव दीक्षागुरुः। –प्र॰ सा॰, ता॰ वृ. २१०/२८४/१२

२. छदुमत्थविहिदवत्थुसु वदणियमज्झयणझाणदाणरदो।
ण लहदि अपुणब्भावं सादप्पगं लहदि।। –प्र॰ सा॰ २५६
ये केचन निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गं न जानन्ति, पुण्यमेव मुक्तिकारणं भणन्ति ते छद्मस्थशब्देन गृह्यन्ते, न च गणधरदेवादयः। तैश्छद्मस्थैरज्ञानिभिः शुद्धात्मोपदेशशून्यैर्ये दीक्षितास्तानि छद्मस्थविहितवस्तूनि भण्यन्ते। –प्र॰ सा॰, ता॰ वृ॰, २५६/३४९/१५

३. पियधम्मो दढधम्मो संविग्गोऽवज्जभीरु परिसुद्धो।
संगहणुग्गहकुसलो सद्दं सारक्खणाजुत्तो।। –मू॰ आ॰ १८३
गभीरो दुद्धरिसो मिदवादी अप्पकोदुहल्लो य।
चिरपव्वइ गिहिदत्थो अज्जाणं गणधरो होदि।। –मू॰ आ॰ १८४
तथा देखें, –मू॰ आ॰ १८५

शिष्य को अपना उत्तराधिकारी बनाता है। ऐसे उत्तराधिकारी को 'बालाचार्य' कहते हैं। आचार्य अपने गच्छ का अनुशासन करने हेतु शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र आदि में अपने समान गुण वाले बालाचार्य पर गण को विसर्जित कर देते हैं।[१] उस समय आचार्य अनुशासन-सम्बन्धी कुछ उपदेश बालाचार्य को देते हैं तथा स्वयं समाधिमरण आदि की तैयारी में लग जाते हैं। नियम भी है कि सल्लेखना के समय तथा श्रेणी-आरोहण के समय आचार्य-पद का त्याग कर दिया जाता है या स्वतः त्याग हो जाता है।[२]

## एलाचार्य

'एला' शब्द का अर्थ है 'इलायची'। जिस तरह इलायची आकार में छोटी होकर भी महत्त्वपूर्ण होती है उसी तरह जो अभी आचार्य तो नहीं है परन्तु आचार्यवत् गुणों के कारण आचार्य के कार्यों को करता है उसे 'एलाचार्य' कहते हैं। यह गुरु की अनुपस्थिति में अन्य मुनियों को चारित्र आदि के क्रम को बतलाता है।[३]

बालाचार्य (युवाचार्य) और एलाचार्य ये दोनों आचार्य परिस्थिति-विशेष में मुख्य आचार्य के कार्य-संचालन में सहायक होते हैं। इन्हें आचार्य के भेद नहीं मानना चाहिए। आचार्य वही है जिसका वर्णन पहले किया गया है।

## निर्यापकाचार्य

निर्यापकाचार्य का विशेष महत्त्व रहा है। इसमें आचार्य के गुणों के साथ एक विशेषविधि की दक्षता होती है। ये दो प्रकार के होते हैं— छेदोपस्थापना

१. कालं संभाविता सव्वगणमणुदिसं च बाहरियं।
सोमतिहिकरण-णक्खत्तविलग्गे मंगलागासे।। २७३
गच्छाणुपालणत्थं आहोइय अत्तगुणसमं भिक्खू
तो तम्मि गणविसग्गं अप्पकहाए कुणदि धीरो।। –भ. आ. २७४

२. सल्लेहणं करेंतो जदि आयरिओ हवेज्ज तो तेण।
ताए वि अवत्थाए चिंतेदव्वं गणस्स हियं।। –भ. आ. २७२
आमंतेऊण गणिं गच्छम्मि तं गणिं ठवेदूण।
तिविहेण खमावेदि हु स बालउड्डाउलं गच्छं।। –भ. आ. २७६
तथा देखें, पंचाध्यायी, उत्तरार्ध ७०९-७१३

३. अनुगुरोः पश्चाद्दिशति विधत्ते चरणक्रममित्यनु दिक् एलाचार्यस्तस्मै विधिना।
–भ. आ. १७७, ३९५



कराने वाले और सल्लेखना कराने वाले। ये दो भेद कार्य की अपेक्षा से हैं। प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति टीका में निर्यापकाचार्य को 'शिक्षागुरु' और 'श्रुतगुरु' बतलाया है तथा निर्यापक का लक्षण किया है— 'संयम में छेद होने पर प्रायश्चित देकर संवेग एवं वैराग्यजनक परमागम के वचनों के द्वारा जो साधु का संवरण करते हैं उन्हें निर्यापक कहते हैं'।[१] अर्थात् संयम से च्युत साधु को दीक्षाछेदरूप प्रायश्चित्त के द्वारा पुनः संयम में स्थापित करना तथा सुदृढ़ समाधिमरण के इच्छुक साधु की इच्छा को सधवाना निर्यापकाचार्य का प्रमुख कार्य है।

## छेदोपस्थापना की दृष्टि से निर्यापकाचार्य

दीक्षा (लिङ्गग्रहण) के समय निर्विकल्प सामायिक संयम के प्रतिपादक आचार्य प्रव्रज्यादायक गुरु हैं। तदनन्तर दीक्षा में छेद (कमी) होने पर सविकल्प छेदोपस्थापना संयम के प्रतिपादक आचार्य को छेदोपस्थापक (पुनःस्थापक) निर्यापक कहते हैं। इस प्रकार जो छिन्न-संयम के प्रतिसन्धान की विधि के प्रतिपादक हैं वे निर्यापकाचार्य हैं।[२] अर्थात् संयम-पालन में प्रमाद आदि के कारण गड़बड़ी होने पर पुनः संयम में प्रायश्चित्त-विधिपूर्वक स्थापित करानेवाले को छेदोपस्थापक निर्यापकाचार्य कहते हैं।

## सल्लेखना की दृष्टि से निर्यापकाचार्य

सल्लेखना की सम्यक् साधना निर्यापकाचार्य के बिना बहुत कठिन है। इसीलिए शास्त्रकारों ने कहा है कि एक से बारह वर्षों तक, सात सौ से भी अधिक योजन तक विहार करके यदि योग्य निर्यापकाचार्य को खोजा जा सके तो अवश्य खोजना चाहिए।[३] उत्कृष्ट निर्यापकाचार्य के संरक्षण (चरणमूल) में यदि समाधिमरण लिया जाता है तो उसे चारों प्रकार की आराधनाओं (ज्ञान, दर्शन,

१. छेदयोर्ये प्रायश्चित्तं दत्वा संवेगवैराग्यजनकपरमागमवचनैः संवरणं कुर्वन्ति ते निर्यापकाः शिक्षागुरवः श्रुतगुरवश्चेति भण्यते। –प्र. सा., ता. वृ. २१०/२८४/१५

२. यतो लिङ्गग्रहणकाले निर्विकल्पसामायिकसंयमप्रतिपादकत्वेन यः किलाचार्यः प्रव्रज्यादायकः स गुरुः। यः पुनरनन्तरं सविकल्पच्छेदोपस्थापनसंयमप्रतिपादकत्वेन छेदं प्रत्युपस्थापकः स निर्यापकः। योऽपि छिन्नसंयमप्रतिसन्धानविधानप्रतिपादकत्वेन छेदे सत्युपस्थापकः सोऽपि निर्यापक एव। ततश्छेदोपस्थापकः परोऽप्यस्ति। –प्र. सा./ता. प्र. २१०

३. पंचच्छसत्तजोयणसदाणि तत्तोऽहियाणि वा गंतुं।
णिज्जावगमण्णेसदि समाधिकामो अणुण्णादं।। ४०१
एक्कं वा दो वा तिण्णि य वारसवरिसाणि वा अपरिदंतो।
जिणवयणमणुण्णादं गवेसदि समाधिकामो दु।। –भ. आ. ४०२

चारित्र और तप) की तथा आत्मशुद्धि आदि गुणों की प्राप्ति होती हैं[1]। निम्न (चारित्रहीन) निर्यापक का आश्रय लेने से हानि होती है, क्योंकि वह रत्नत्रय से च्युत होने पर उसे रोक नहीं सकेगा। इसके अतिरिक्त वह क्षपक की सल्लेखना को लोक में प्रकट करके पूजा आदि आरम्भ क्रियाओं को करायेगा।[2]

## समाधिमरण-साधक योग्य निर्यापकाचार्य का स्वरूप

आचारवत्व आदि जो सामान्य गुण आचार्य के बतलाये हैं वे सभी गुण समाधिमरणसाधक निर्यापकाचार्य में होना चाहिए। इसके अतिरिक्त योग्यायोग्य आहार के जानने में कुशल, क्षपक के चित्त को प्रसन्न रखने वाला, प्रायश्चित्त-ग्रन्थ के रहस्य को जानने वाला, आगमज्ञ, स्व-पर के उपकार करने में तत्पर, संसारभीरु तथा पापकर्मभीरु साधु ही योग्य निर्यापक हो सकता है।[3] जिस प्रकार नौका चलाने में अभ्यस्त बुद्धिमान् नाविक तरंगों से अत्यन्त क्षुभित समुद्र में रत्नों से भरी हुई नौका को डूबने से बचा लेता है उसी प्रकार भूख, प्यास आदि तरंगों

---

१. इय अट्ठगुणोवेदी कसिणं आराधणं उवविधेदि। —भ॰ आ॰ ५०७
आयारजीदकप्पगुणदीवणा अत्तसोधिणिज्झंझा।
अज्जव-मद्दव-लाघवतुट्ठी पल्हादणं च गुणा।। —भ॰ आ॰ ४०९
तथा देखिए भ॰ आ॰ २४-२६

२. सेज्जोवधिसंथारं भत्तं पाणं च चयणकप्पगदो।
उवकप्पिज्ज असुद्धं पडिचरिए वा असंविग्गे।। ४२४
सल्लेहणं पयासेज्ज गंधं मल्लं च समणुजाणिज्जा।
अप्पाउग्गं व कधं करिज्ज सइरं वा जंपिज्ज।।४२५
ण करेज्ज सारणं वारणं च खवयस्स चयणकप्पगदो।
उद्देज्ज वा महल्लं खवयस्स किंचणारंभं।। —भ॰ आ॰ ४२६

३. पंचविधे आचारे समुज्जदो सव्वसमिदचेट्ठाओ।
सो उज्जमेदि खवयं पंचविधे सुट्ठु आयारे।। ४२३
आयारत्थो पुण से दोसे वि ते विवज्जेदि।
तम्हा आयारत्थो णिज्जवओ होदि आयरिओ।। —भ॰ आ॰ ४२७
संविग्गवज्जभीरुस्स पादमूलम्मि तस्स विहरंतो।
जिणवयण सव्वसारस्स होदि आराधओ तादी।। ४००
कप्पाकप्पे कुसला समाधिकरणुज्जदा मुदरहस्सा।
गीदत्था भयवंता अडदालीसं तु णिज्जवया।। —भ॰ आ॰ ६४८



से क्षुभित क्षपकरूपी नौका को निर्यापकाचार्य मधुर हितोपदेश के द्वारा क्षपक के मन को स्थिर रखते हुए समाधिमरण की साधना करा देता है।[1]

सूत्रार्थज्ञ तथा आधारगुणयुक्त निर्यापकाचार्य के पादमूल में सल्लेखना लेने वाले क्षपक साधु को अनेक गुणों की प्राप्ति होती है। उसके संक्लेश-परिणाम नहीं होते। उसकी रत्नत्रय-साधना में बाधा नहीं आती। रोगग्रस्त क्षपक प्रकुर्वीगुणयुक्त निर्यापकाचार्य के पास रहकर तथा शुश्रूषा को पाकर संक्लेश को प्राप्त नहीं होता है। धैर्यजनक, आत्महितप्रतिपादक और मधुर वाणी वाले निर्यापकत्व गुणधारक निर्यापकाचार्य के पास रहने से साधना सफल होती है। इसीलिए आचारवत्वादि गुणधारक निर्यापकाचार्य की कीर्ति होती है।[2]

## योग्य निर्यापकाचार्य के न मिलने पर

आचारवत्वादि गुणों से युक्त योग्य निर्यापकाचार्य या उपाध्याय के न मिलने पर क्षपक के समाधिमरण (सल्लेखना) साधने हेतु प्रवर्तक मुनि अथवा अनुभवी वृद्ध मुनि अथवा बालाचार्य निर्यापकाचार्य का कार्य कर सकते हैं। भरत और ऐरावत क्षेत्र में विचित्र काल का परावर्तन होता है जिससे कालानुसार प्राणियों के गुणों में हीनाधिकता आती है। अतएव जिस समय जैसे हीनाधिक

---

१. जह पक्खुभिदुम्मीए पोदं रदणभरिदं समुद्दम्मि।
णिज्जवओ धारेदि हि जिदकरणो बुद्धिसंपण्णो।। ५०३
तह संजमगुणभरिदं परिस्सहुम्मीहि सुभिदमाइद्धं।
णिज्जवओ धारेदि हु मुहुरिहिं हिदोवदेसेहिं।। —भ॰ अ॰ ५०४
तथा देखें, मूलाचार (वृत्तिसहित) २/८८

२. गीदत्थपादमूले होंति गुणा एवमादिया बहुगा।
ण य होइ संकिलेसो ण चावि उप्पज्जदि विवत्ती।। ४४७
खवगो किलामिदंगो पडिचरिय गुणेण णिव्वुदिं लहइ।
तम्हा णिव्विसिदव्वं खवएण पकुव्वयसयासे।। ४५८
धिदिबलकरमादहिदं महुरं कण्णाहुदिं जदि ण देइ।
सिद्धिसुहमावहंती चत्ता साराहणा होइ।। ५०५
इय णिव्ववओ खवयस्स होई णिज्जावओ सदायरिओ।
होइ य कित्ती पधिदा एदेहिं गुणेहिं जुत्तस्स।। —भ॰ आ॰ ५०६

शोभनगुणयुक्त निर्यापक मिलें उस समय उनसे ही कार्य करा लेना चाहिए।[१] यहाँ इतना ध्यान रखना चाहिए कि जहाँ तक संभव हो योग्य निर्यापक का अन्वेषण अवश्य करना चाहिए। अन्यथागति होने पर या समयाभाव की स्थिति में ही हीनाधिक शोभनगुणयुक्त निर्यापक से कार्य चलाना चाहिए, अयोग्य से नहीं।

### सल्लेखनार्थ निर्यापकों की संख्या

क्षपक की सल्लेखना कराने हेतु कितने निर्यापक या परिचारक होने चाहिए? इस सन्दर्भ में अधिकतम ४२, ४४ तथा ४८ निर्यापकों की संख्या बतलाई है। संक्लेश-परिणामयुक्त काल में चार तथा अतिशय संक्लेशकाल में दो निर्यापक क्षपक का कार्य साध सकते हैं। किसी भी काल में एक निर्यापक न हो, क्योंकि एक निर्यापक के होने पर वैयावृत्त्यादि ठीक से सम्भव न होने से संक्लेश परिणाम उत्पन्न होते हैं और रत्नत्रय के बिना मरण होने से दुर्गति भी होती है।[२] क्षपक की वैयावृत्ति आदि के सन्दर्भ में कार्यविभाजन करना होता है जिसके लिए एकाधिक परिचारक आवश्यक होते हैं।

### सल्लेखना कब और क्यों?

सल्लेखना अथवा समाधिमरण तब स्वीकार किया जाता है जब असाध्य रोगादि से मृत्यु सुनिश्चित लगे। इसमें तप के द्वारा काय और कषायों को कृश किया जाता है। यह मृत्यु का तटस्थभाव से स्वागत है, आत्महत्या नहीं।

---

१. एदारिसमि थेरे असदि गणत्थे तहा उवज्झाए।
होदि पवत्तो थेरो गणधरवसहो य जदणाए।। ६२९
जो जारिसओ कालो भरदेरवदेसु होइ वासेसु।
ते तारिसया तदिया चोद्दालीसं पि णिज्जवया।। –भ॰ आ॰ ६७१

२. गीदत्था भयवंता अडदालीसं तु णिज्जवया।। ६४८
णिज्जावया य दोण्णि वि होंति जहण्णेण कालसंसयणा।
एक्को णिज्जावयओ ण होइ कइया वि जिणसुत्ते।। ६७३
एगो जइ णिज्जवओ अप्पा चत्तो परोयवयणं च।
वसणमसमाधिमरणं वड्डाहो दुग्गदी चावि।। –भ॰ आ॰ ६७४
इह हि जिनेश्वरमार्गे मुनीनां सल्लेखना समये हि द्विचत्वारिंशद्भिराचार्यैर्दत्तोत्तमार्थप्रतिक्रमणाभिधानेन देहत्यागो धर्मो व्यवहारेण। –नि॰सा॰, ता॰ वृ॰ ९२
तथा देखें,पृ॰ ६०, टि॰ नं॰ २, भ॰ आ॰ ५१९-५२०, ६७५-६७९



योग्य कारणों के अभाव में सल्लेखना लेने का निषेध किया गया है।[१] अतः मृत्युकाल सन्निकट है या नहीं इसका ठीक से परीक्षण आवश्यक है।

### सदोष-शिष्य के प्रति गुरु-आचार्य का व्यवहार

गृहस्थों के लिए यद्यपि सभी साधु गुरु हैं परन्तु साधुसंघ में भी परस्पर गुरु-शिष्य-भाव होता है। योग्य गुरु का अपने सदोष-शिष्य के प्रति कैसा व्यवहार होना चाहिए? इस सन्दर्भ में निम्न बातें विशेषरूप से चिन्तनीय हैं–

१. **शिष्य के दोषों की उपेक्षा न करे**–यदि कोई शिष्य चारित्र में दोष लगाता है तो आचार्य को अपने मृदु-स्वभाव के कारण उसके दोषों की उपेक्षा नहीं करना चाहिए। प्रायश्चित्त देकर उसकी छेदोपस्थापना कराना चाहिए। यदि वह छेदोपस्थापना स्वीकार न करे तो उसका त्याग कर देना चाहिए। यदि ऐसे अयोग्य साधु को गुरु (आचार्य) मोह के कारण संघ में रखता है और उसे प्रायश्चित्त नहीं देता है, तो वह गुरु भी प्रायश्चित्त के योग्य है।[२]

२. **पर-हितकारी कटुभाषी भी गुरु श्रेष्ठ है**- शिष्य के दोषों का निवारण न करने वाले मृदुभाषी गुरु शिष्य का अहित करते हैं। ऐसे मृदुभाषी गुरु भद्र नहीं हैं। जो गुरु शिष्य के दोषों को प्रकट करके उससे प्रायश्चित्त करवाता है, वह गुरु कठोर होकर भी परमकल्याणकारक है, क्योंकि उससे अधिक और कौन उसका उपकारी गुरु हो सकता है।[३] जो जिसका हित करना चाहता है वह उसे हित के कार्यों में बलात् प्रवृत्त करता है। जैसे बच्चे का हित चाहने वाली माता रोते हुए बच्चे का मुँह फाड़कर बलात् उसे कड़वी दवा पिलाती है, वैसे ही गुरु अपने शिष्य का कल्याण करने के लिए उसे बलात् प्रायश्चित्त देता है। कठोर वचन भी बोलता है। आत्महित-साधक होते

---

१. तस्स ण कप्पदि भत्तपइण्णं अणुवट्ठिदे भये पुरदो।
सो मरणं पच्छितो होदि हु सामण्णणिव्विणो।। –भ॰ आ॰ ७६

२. जदि इदरो सोऽजोग्गो छेदमुवट्ठावणं च कादव्वं।
जदि णेच्छदि छंडेज्जो अह गेह्णदि सोवि छेदरिहो।। –मू॰ आ॰ १६८

३. जिब्भाए वि लिहंतो ण भद्दओ जत्थ सारणा णत्थि।। –भ॰ आ॰ ४८१/७०३
दोषान् कांश्चन तान्प्रवर्तकतया प्रच्छाद्य गच्छत्ययं,
सार्धं तैः सहसा म्रियेद्यदि गुरुः पश्चात् करोत्येष किम्?
तस्मान्मे न गुरुर्गुरुर्गुरुतरान् कृत्वा लघूंश्च स्फुटं.
ब्रूते यः सततं समीक्ष्य निपुणं सोऽयं खलः सद्गुरुः।। –आत्मानुशासन १४२

हुए पर-हित-साधक गुरु दुर्लभ हैं।[१] ऋषियो ने कहा है- 'उपदेश दिया जाने वाला पुरुष चाहे रोष करे, चाहे उपदेश को विषरूप समझे, परन्तु गुरु को हितरूप वचन अवश्य कहना चाहिए'।[२]

३. **शिष्य के दोषों को गुरु अन्यत्र प्रकट न करे**— गुरु पर विश्वास करके ही शिष्य अपने गुप्त दोष उन्हें बतलाता है। अतः गुरु का कर्तव्य है कि वह शिष्य के उन दोषों को अन्य से न कहे।[३]

### उपाध्याय का स्वरूप

आचार्य के बाद उपाध्याय का विशेष महत्त्व है। णमोकार मंत्र में पञ्च परमेष्ठियों में उपाध्याय का आचार्य के बाद दूसरा स्थान है। उपाध्याय वक्तृत्व-कला में निपुण होता है तथा आगमज्ञ (बारह अङ्गों का ज्ञाता) होता है। इसका मुख्य कार्य अध्ययन और अध्यापन है।[४] इसमें आचार्य के सभी गुण पाए जाते हैं। यह आचार्य की तरह धर्मोपदेश दे सकता है, परन्तु आदेश नहीं दे सकता

१. पिल्लेदूण रडंत पि जहा बालस्स मुहं विदारित्ता।
पज्जेई घदं मया तस्सेव हिदं विचिंतंती।। ४७९
तह आयरिओ वि अणुज्जस्स खवयस्स दोसणीहरणं।
कुणदि हिदं से पच्छा होहिदि कडुओसहं वत्ति।। ४८०।।
.......................................
पाएण वि ताडितो स भद्दओ जत्थ सारणा अत्थि।। ४८१
आदट्ठमेव जे चिंतेदुमुट्ठिदा जे परट्ठमवि लोगे।
कडुय फरुसेहिं ते हु अदिदुल्लहा लोए।। –भ॰ आ॰ ४८३

२. तथा चार्षम्–
रूसउ वा परे मा वा विसं वा परियत्तउ।
भासियव्वा हिया भासा सपक्खगुणकारिया।। –स्याद्वाद मञ्जरी ३/१५/१९

३. आयरियाणं वीसत्थदाए भिक्खू कहेदि सगदोसे।
कोई पुण णिद्धम्मो अण्णेसि कहेदि ते दोसे। –भ॰ आ॰ ४८८

४. बारसंगं जिणक्खादं सज्झायं कथितं बुधे।
उवदेसई सज्झायं तेणुवज्झाउ उच्चदि।। –मू॰ आ॰ ७/१०
उपाध्यायत्वमित्यत्र श्रुताभ्यासोऽस्ति कारणम्।
यदध्येति स्वयं चापि शिष्यानध्यापयेद्गुरुः।। –पं॰ अ॰, उ॰ ६६१



है।[१] उपाध्याय के लिए शास्त्रों का विशेष अभ्यास होना आवश्यक है। वह स्वयं श्रुत का अध्ययन करता है और शिष्यों को श्रुत का अध्यापन कराता है। अतः लोकव्यवहार में सभी लोग इसे आसानी से गुरु समझते हैं। श्रेष्ठ उपाध्याय वही है जो ग्यारह अङ्ग और चौदह पूर्वों का पाठी हो। जैसा कि कहा है— 'रत्नत्रय से सुशोभित, समुद्रतुल्य, अङ्ग और पूर्व-ग्रन्थों में पारङ्गत तथा श्रुत के अध्यापन में सदा तत्पर महान् साधु उपाध्याय कहलाता है।'[२] इससे इतना स्पष्ट है कि सच्चा उपाध्याय वही है जो स्वयं सदाचार-सम्पन्न हो, आगमग्रन्थों का ज्ञाता हो तथा आगम ग्रन्थों का अध्यापन करता हो। आगम-भिन्न विषयों का उपदेष्टा उपाध्याय नहीं है। काल-दोष से आज यद्यपि ग्यारह अङ्ग और चौदह पूर्वग्रन्थ न तो उपलब्ध हैं और न उनका कोई ज्ञाता है, फिर भी उन ग्रन्थों के आधार पर लिखे गए कषायपाहुड, षट्खण्डगाम, समयसार आदि के ज्ञाता एवं उपदेष्टा साधु उपाध्याय माने जा सकते हैं।

### आचार्य आदि साधु-संघ के पाँच आधार

मूलाचार में कहा है कि साधु-संघ के पाँच आधार हैं[३] – आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर। जहाँ ये आधार न हों वहाँ रहना उचित नहीं है, क्योंकि संघ का संचालन इन्हीं पर निर्भर है। दीक्षा और अनुशासन आचार्य का कार्य है। अध्ययन-अध्यापन उपाध्याय का कार्य है। संघ का प्रवर्तन (व्यवस्था) करना प्रवर्तक (उपाध्याय की अपेक्षा अल्प-श्रुतज्ञाता) का कार्य है। शिष्यों को कर्तव्यबोध कराकर संयम में स्थिर करना स्थविर (चिरकालदीक्षित साधु) का कार्य है और गुरु की आज्ञा से साधु-समूह (गण) को साथ लेकर पृथक् विचरते हुए शास्त्र-परम्परा को अविच्छिन्न रखना गणधर (आचार्य-भिन्न, परन्तु आचार्य के सदृश गणरक्षक) का कार्य है। ये पाँच आधार कार्यविभाजन की दृष्टि से हैं। आज इस तरह के साधु-संघ की परम्परा लुप्तप्राय है।

१. शेषस्तत्र व्रतादीनां सर्वसाधारणो विधिः।
कुर्याद्धर्मोपदेशं स नादेशं सूरिवत्क्वचित्।। –पं॰ अ॰, उ॰ ६६२
तथा देखिए, ध॰ १/१.१.१/३२/५१; पं॰ अ॰, उ॰ ६५९-६६५; मू॰ आ॰, वृत्ति ४/१५५

२. रत्नत्रयमहाभूषा अङ्गपूर्वाब्धिपारगाः।
उपाध्याया महान्तो ये श्रुतपाठनतत्पराः।। –मूलाचारप्रदीप ४४७

३. तत्थ ण कप्पइ वासो जत्थ इमे णत्थि पंच आधारा।
आइरिय उवज्झाया पवत्तथेरा गणधरा य।। १५५
सिस्साणुग्गहकुसलो धम्मुवदेसो य संघवट्टवओ।
मज्जादुवदेसोवि य गणपरिरक्खो मुणेयव्वो।। –मू॰ आ॰ १५६

## साधु (मुनि)

जब श्रावक दर्शन, व्रत आदि के क्रम में आत्म-विकास की ग्यारहवीं प्रतिमा (उद्दिष्टत्याग) में पहुँचकर मात्र एक लंगोटीधारी 'ऐलक' हो जाता है तब वह साधु बनने का पूर्ण अभ्यास करता है। 'ऐलक' अवस्था तक वह श्रावक ही कहलाता है। इसके बाद 'ऐलक' की योग्यता की परीक्षा लेकर जब आचार्य उसे विधिपूर्वक अनगार दीक्षा देता है तब वह साधु कहलाता है। साधु बनने के पूर्व धारण की गई एकमात्र लंगोटी को भी छोड़कर उसे नग्न दिगम्बर हो जाना पड़ता है। यहाँ भी आत्मशुद्धि की प्रमुखता होती है अन्यथा नग्न होकर भी वह साधु कहलाने के योग्य नहीं है।

### साधु के पर्यायवाची नाम

श्रमण (श्रम = तपश्चरण करने वाला, या समताभाव रखने वाला) , संयत (संयमी), ऋषि (ऋद्धि-प्राप्त साधु), मुनि (मनन करने वाला), साधु, वीतरागी, अनगार (घर, स्त्री आदि का त्यागी), भदन्त (सर्व-कल्याणों को प्राप्त), दान्त (पंचेन्द्रिय-निग्रही) और यति (इन्द्रियजयी)— ये सभी साधु के पर्यायवाची हैं।[१] भिक्षु, योगी (तपस्वी), निर्ग्रन्थ (कर्मबन्धन की गांठ से रहित), क्षपणक, निश्चेल, मुण्ड (ऋषि), दिग्वास, वातवसन, विवसन, आर्य, अकच्छ (लंगोटी-रहित) आदि शब्द भी तत्तत् विशेषताओं के कारण साधु के पर्यायवाची नाम हैं।[२]

### सच्चे साधु के गुण :

सच्चे साधु के लिए सिंह के समान पराक्रमी, हाथी के समान स्वाभिमानी, उन्नत बैल के समान भद्रप्रकृति, मृग के समान सरल, पशुवत् निरीह गोचरी-वृत्ति वाला, पवनवत् निःसंग सर्वत्र विचरण करने वाला, सूर्यवत् तेजस्वी या सकल तत्त्वप्रकाशक, सागरवत् गम्भीर, मेरुसम अकम्प, चन्द्रसम शान्तिदायक, मणिवत् ज्ञान-प्रभापुञ्जयुक्त, पृथिवीवत् सहनशील, सर्पवत् अनियत-वसतिका में रहने वाला, आकाशवत् निरालम्बी या निर्लेप तथा सदा परमपद का अन्वेषण

१. समणोत्ति संजदो त्ति य रिसि मुणि साधु त्ति वीदरागो त्ति।
णामाणि सुविहिदाणं अणगार भदंत दंतोत्ति।। –मू०आ० ८८८

२. बृहद्नयचक्र ३३२, प्रवचनसार, ता०वृ०, २४९ तथा देखिए, भगवान् महावीर और उनका तत्त्व-दर्शन (आ० देशभूषण जी), पृ० ६६६-६७३।



करने वाला कहा है।[१] रत्नकरण्डश्रावकाचार में भी कहा है—

'विषयों की आशा से रहित, निरारम्भ, अपरिग्रही तथा ज्ञान-ध्यान में लीन रहने वाले ही प्रशस्त तपस्वी साधु हैं।[२]

अन्यत्र भी कहा है—

मोक्ष की साधना करने वाले, मूलगुणादि को सदा आत्मा से जोड़े रखने वाले तथा सभी जीवों में समभाव रखने वाले साधु होते हैं।[३]

जो मोक्षमार्गभूत दर्शन, ज्ञान और चारित्र को सदा शुद्धभाव से आत्मसिद्धि-हेतु साधते हैं, वे मुनि हैं, साधु हैं तथा नमस्कार के योग्य हैं।[४]

वैराग्य की पराकाष्ठा को प्राप्त, प्रभावशाली, दिगम्बररूपधारी, दयाशील, निर्ग्रन्थ, अन्तरंग-बहिरंग गांठ को खोलने वाला, व्रतों को जीवनपर्यन्त पालने वाला, गुणश्रेणिरूप से कर्मों की निर्जरा करने वाला, तपस्वी, परीषह - उपसर्गविजयी, कामजयी, शास्त्रोक्त-विधि से आहार लेने वाला, प्रत्याख्यान में तत्पर इत्यादि अनेक गुणों को धारण करने वाला साधु होता है। उत्सर्ग मार्गानुसार वह स्वर्ग और मोक्षमार्ग का थोड़ा भी आदेश तथा उपदेश नहीं करता। विकथा करने का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता। ऐसे साधु को ही नमस्कार करना चाहिए इतर को नहीं, भले ही वह श्रेष्ठ विद्वान् क्यों न हो?[५]

१. सीह-गय-वसह-मिय-पसु-मारुद-सूरूवहिमंदरिदुं-मणी।
खिदि-उरगंबरसरिसा परमपयविमग्गया साहू।। –ध० १/१.१.१/३१/५१

२. विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते।। –र० क० १०.

३. णिव्वाणसाधए जोगे सदा जुंजदि साधवो।
समा सव्वेसु भूदेसु तम्हा ते सव्वसाधवो।। –मू०आ० ५१२

४. मार्गं मोक्षस्य चारित्रं सद्दृग्ज्ञप्तिपुरःसरम्।
साधयत्यात्मसिद्ध्यर्थं साधुरन्वर्थसंज्ञकः।। –पं०अ०,उ० ६६७
दंसण-णाणसमग्गं मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं।
साधयदि णिच्चसुद्धं साहू स मुणी णमो तस्स।। –द्रव्यसंग्रह ५४/२२१

५. वैराग्यस्य परां काष्ठामधिरूढोऽधिकप्रभः।
दिगम्बरो यथाजातरूपधारी दयापरः।।६७१
निर्ग्रन्थोऽन्तर्बहिर्मोहग्रन्थेरुद्ग्रन्थको यमी।
कर्मनिर्जरकः श्रेण्या तपस्वी स तपोंशुभिः।।६७२
इत्याद्यनेकधाऽनेकैः साधुः साधुगुणैः श्रितः।
नमस्यः श्रेयसेऽवश्यं नेतरो विदुषां महान्।।६७४

## साधु के बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग चिह्न

साधु के उपर्युक्त गुणों को बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग गुणों में विभक्त किया गया है। बहिरङ्ग गुणों से साधु के बाह्यरूप को पहचाना जाता है और अन्तरङ्ग गुणों से साधु के शुद्धोपयोगी आभ्यन्तर स्वरूप को जाना जाता है। वास्तव में साधु को अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों चिह्नों (लिङ्गों) को धारण करना अनिवार्य है।[१] साधु के बतलाए गए मूल और उत्तरगुणों को धारण करना बहिरङ्ग-चिह्न हैं। मूर्च्छाभाव (आसक्ति) को छोडकर शुद्धात्मभाव में लीन रहना अन्तरङ्ग-चिह्न है।

साधुओं में दो प्रकार का चारित्र पाया जाता है— सरागचारित्र और वीतरागचारित्र। छठे गुणस्थान से दशवें गुणस्थान में स्थित साधु का चारित्र 'सराग-चारित्र' कहलाता है क्योंकि उसकी सम्पूर्ण कषायों का उपशम या क्षय नहीं हुआ है। जब साधु ग्यारहवें गुणस्थान में पहुँचकर सम्पूर्ण कषायों का उपशम कर देता है अथवा बारहवें गुणस्थान में सम्पूर्ण कषायों का क्षय कर देता है तो उस चारित्र को वीतराग चारित्र या यथाख्यात चारित्र कहते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि सभी साधु वीतरागचारित्र का पालन नहीं कर पाते। भावों के अनुसार प्रतिक्षण उनका गुणस्थान छठे से दशवें तक बदलता रहता है।[२]

सातवें गुणस्थान के बाद ऊपर बढ़ने की दो श्रेणियाँ हैं— उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी। उपशमश्रेणी से चढ़ने वाला साधु ग्यारहवें गुणस्थान तक पहुँचकर भी नीचे सातवें गुणस्थान तक अवश्य आता है। यदि परिणामों में क्रूरता आदि अधिक होती है तो वह प्रथम गुणस्थान तक गिर सकता है; यदि परिणामों में उत्कृष्ट क्षायिक भाव होते हैं तो क्षपकश्रेणी से ऊपर चढ़कर अर्हन्त और सिद्ध अवस्था प्राप्त कर लेता है। सामान्यतः साधु छठे से सातवें गुणस्थान में परिभ्रमण

---

नादेशं नोपदेशं वा नादिशेत् स मनागपि।
स्वर्गापवर्गमार्गस्य तद्विपक्षस्य किं पुनः।। —पं०अ०,उ० ६७०
ये व्याख्यायन्ति न शास्त्रं, न ददाति दीक्षादिकं च शिष्याणाम्।
कर्मोन्मूलनशक्ता ध्यानरतास्तेऽत्र साधवो ज्ञेयाः।।
—क्रियाकलाप, सामायिक-दण्डकी टीका ३-१-५/१४३

१. जधजादरूवजादं उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं।
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं।।२०५
मुच्छारंभविजुत्तं उवओगजोगसुद्धीहिं।
लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भवकारणं जेण्हं।। —प्र०सा० २०६

२. देखें, गुणस्थान चक्र, पृ. 111



करता रहता है। इससे नीचे उतरने पर वह वस्तुतः साधु नहीं है, केवल बाह्यवेष हो सकता है। अतएव साधु का चारित्र ऐसा हो कि वह छठे गुणस्थान से नीचे न उतरे।

अब दूसरा विचार यह है कि सभी साधु शुद्ध आत्मध्यानी नहीं हो सकते। उनमें सूक्ष्म रागादि का उदय होने से शुभक्रियाओं में प्रवृत्ति होती है। अधिकांश साधु इसी कोटि के हैं जिनमें सरागचारित्र पाया जाता हैं। सरागचारित्र वाले साधु सच्चे साधु नहीं हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अन्यथा गुणस्थान-व्यवस्था नहीं बनेगी। सम्यक्त्व का ज्ञान केवली को ही है क्योंकि मतिज्ञानादि चारों ज्ञानों का विषय रूपी पदार्थ हैं।[१] अतः हम व्यवहार से या बाह्य चिह्नों से ही सम्यक्त्व या चारित्र को जान सकते हैं, निश्चयनय से नहीं। ऐसी स्थिति में व्यवहाराश्रित साधु को सरागश्रमण और निश्चयनयाश्रित साधु को वीतरागश्रमण इन दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। जब तक संज्वलन कषाय (सूक्ष्म साम्पराय) का सद्भाव रहता है तब तक आत्मपरिणमन सराग माना जाता है। उपयोग में रागादि नहीं हैं परन्तु राग का उदय दशवें गुणस्थान तक रहता है। अतः वे अंशतः शुद्धोपयोगी हैं।

## सराग श्रमण (शुभोपयोगी साधु)

छठे से दशवें गुणस्थानवर्ती सराग श्रमण को शुभोपयोगी साधु कहा जाता है, क्योंकि वह वैयावृत्य आदि शुभ-क्रियाओं को करता है। ऐसा साधु अट्ठाईस मूलगुणों और विविध प्रकार के चौरासी लाख उत्तरगुणों को धारण करता है। कहा है–

१. पाँच महाव्रतधारी, तीन गुप्तियों से सुरक्षित, अठारह हजार शील के भेदों से युक्त तथा चौरासी लाख उत्तरगुणों को धारण करने वाला साधु होता है।[२]

२. दर्शन-विशुद्ध, मूलादि-गुणों से युक्त, अशुभराग-रहित, व्रतादि में राग से सहित साधु सराग श्रमण है।[३]

---

१. रूपिष्ववधेः। तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य। —त०सू० १-२७-२८

२. पञ्चमहाव्रतधरास्त्रिगुप्तिगुप्ताः अष्टादशशीलसहस्रधराश्चतुरशीतिशतसहस्रगुणधराश्च साधवः। —ध० १/१.१.१/५१/२

३. दंसणसुद्धिविसुद्धो मूलाइगुणेहि संजओ तह य।
..................................................
असुहेण रायरहिओ वयाइरायेण जो हु संजुत्तो।
सो इह भणिय सरागो......।। —नयचक्रबृहद् ३३०,३३१

३. जो सात तत्त्वों का भेदपूर्वक श्रद्धान करता है, भेदरूप से जानता है तथा विकल्पात्मक भेदरूप रत्नत्रय की साधना करता है, वह व्यवहारावलम्बी साधु है।[१]

४. शुद्धात्मा में अनुराग से युक्त तथा शुभोपयोगी चारित्र वाला सरागी साधु होता है।[२]

५. व्यवहारावलम्बी साधु को मन, वचन और काय की शुद्धिपूर्वक तेरह प्रकार की क्रियाओं की भावना करनी चाहिए। वे तेरह प्रकार की क्रियाएँ हैं— पञ्च-परमेष्ठी नमस्कार, षडावश्यक, चैत्यालय में प्रवेश करते समय 'निसिही' शब्द का तीन बार उच्चारण तथा चैत्यालय से बाहर निकलते समय 'असिही' शब्द का तीन बार उच्चारण[३] अथवा पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति ये तेरह प्रकार का चारित्र ही तेरह क्रियाएँ हैं।[४]

६. अर्हदादि में भक्ति, ज्ञानियों में वात्सल्य, श्रमणों के प्रति वन्दन-अभ्युत्थान-अनुगमनरूप विनीत-प्रवृत्ति, धर्मोपदेश, देववन्दन आदि क्रियाएँ शुभोपयोगी साधु की हैं।[५]

## साधु के अट्ठाईस मूलगुण

दिगम्बर जैन साधु के लिए हमेशा जिन गुणों का पालना अनिवार्य है तथा जिनके बिना साधु कहलाने के योग्य नहीं है उन्हें साधु के मूलगुण कहते हैं। उनकी संख्या अट्ठाईस है[६]— पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियनिग्रह, छः आवश्यक, केशलौंच, आचेलक्य, अस्नान, भूमिशयन, अदन्तधावन, खड़े-खड़े भोजन (स्थित-भोजन) और एक-भक्त (एक बार भोजन)।

---

१. श्रद्धानः परद्रव्यं बुध्यमानस्तदेव हि।
तदेवोपेक्षमाणश्च व्यवहारी स्मृतो मुनिः।। –त० सार० ९/५

२. शुभोपयोगिश्रमणानां शुद्धात्मानुरागयोगिचारित्रत्व-लक्षणम्। –प्र०सा०, त०प्र० २४६

३. भावपाहुड, टीका ७८/२२९/११

४. द्रव्यसंग्रह, ४५

५. प्रवचनसार, २४६-२५२

६. वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाणं।
खिदिसयणमदंतधोवणं ठिदिभोयणमेगभत्तं च।। –प्र०सा० २०८
मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता। –प्र०सा० २०९



**(क) पाँच महाव्रत**— पाँच महाव्रत इस प्रकार हैं— १. अहिंसा (हिंसा-विरति), २. सत्य, ३. अचौर्य (अदत्त-परिवर्जन), ४. ब्रह्मचर्य और ५. अपरिग्रह (धनादि तथा रागादि से विमुक्ति)। इन व्रतों का श्रावक एकदेश (स्थूलरूप) से और साधु सर्वदेश से पालन करते हैं। अतः श्रावक अणुव्रती और साधु महाव्रती कहलाते हैं। इन महाव्रतों के द्वारा क्रमशः हिंसादि पाँचों पापों का पूर्णरूप से त्याग किया जाता है। संयम-पालने हेतु शरीर-धारण आवश्यक होता है जिससे पूर्ण हिंसादि का त्याग संभव नहीं है। इसीलिए सराग संयमी के लिए सूक्ष्म हिंसादि दुर्निवार है। वस्तुतः पूर्णतः वीतराग चारित्र उपशान्तमोह या क्षीणमोह के पूर्व संभव नहीं है। फिर भी हिंसादि-क्रियाओं में सामान्यतया साधु की प्रवृत्ति न होने से वह महाव्रती है। वह स्वयं आरम्भ आदि क्रियायें नहीं करता है। सदा गुप्तियों का पालन करता है। आवश्यक होने पर समितियों के अनुसार प्रवृत्ति करता है। अशुभ-क्रियाओं में कदापि प्रवृत्त नहीं होता है।

(ख) **पाँच समितियाँ**— चारित्र और संयम में प्रवृत्ति हेतु पाँच समितियाँ बतलाई हैं— १. ईर्या- समिति (गमनागमनविषयक सावधानी), २. भाषा-समिति (वचनविषयक सावधानी), ३. एषणा-समिति (आहार या भिक्षाचर्याविषयक सावधानी), ४. आदाननिक्षेपण-समिति (शास्त्रादि के उठाने-रखने में सावधानी) और ५. उच्चारप्रस्रवण या प्रतिष्ठापनिका-समिति (मलमूत्रादि-विसर्जनसम्बन्धी सावधानी)। ये समितियाँ चारित्र की प्रवृत्ति में सहायिका हैं। यदि प्रवृत्ति करना आत्यावश्यक न हो तो तीनों गुप्तियों (मन, वचन और काय की प्रवृत्ति न होना) का पालन करना चाहिए। ये गुप्तियाँ और समितियाँ महाव्रतों के रक्षार्थ कवचरूप हैं।

(ग) **पाँच इन्द्रियनिग्रह**— स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र (कान) इन पाँच इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों (क्रमशः स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द) में प्रवृत्त होने से रोकना।

(घ) **छः आवश्यक (नित्यकर्म)**— १. सामायिक (संयम) २. चतुर्विंशतिस्तव (चौबीस तीर्थङ्करों के गुणों का कीर्तन), ३. वंदना (ज्येष्ठ एवं गुरुओं के प्रति बहुमान प्रकट करना), ४. प्रतिक्रमण (दोषों का परिमार्जन), ५. प्रत्याख्यान (अशुभ-प्रवृत्तियों का त्याग) तथा ६. कायोत्सर्ग (शरीर से ममत्व-त्याग)— ये साधु के छः नित्यकर्म हैं।

(ङ) **शेष सात मूलगुण**— १. लोच या केशलौंच (मस्तक तथा दाढी-मूंछ के बालों को अपने या दूसरों के हाथों से उखाड़ना), २. आचेलक्य या नग्नत्व, ३. अस्नान, ४. भूमिशयन (औंधे या सीधे न लेटकर धनुर्दण्डाकारमुद्रा में एक

करवट से प्रासुक भूमि पर सोना), ५. अदन्तधावन (दांतों का शोधन न करना), ६. स्थितभोजन (शुद्ध भूमि में खड़े-खड़े विधिपूर्वक आहार लेना) और ७. एकभक्त (दिन में एक बार निर्धारित समय पर भोजन करना)— ये दिगम्बर जैन साधु के सात विशेष चिह्न हैं।

लोच से लेकर एकभक्त तक के सात मूलगुण साधु के बाह्य-चिह्न हैं। मयूरपिच्छ और कमण्डलु रखना भी साधु के बाह्य-चिह्न हैं। मयूरपिच्छ से साधु सम्मार्जन करके जीवों की रक्षा करते हैं तथा कमण्डलु में शुद्ध प्रासुक जल रहता है जो शौचादि क्रियाओं के उपयोग में आता है। लोच आदि मूलगुण शरीर को कष्टसहिष्णु बनाते हैं तथा पराधीनता से मुक्त करके प्रकृति से तादात्म्य जोड़ते हैं। लोक-लज्जा तथा लोक-भय का नामोनिशान मिट जाता है। चारित्रपालन में दृढ़ता आती है। विषयों में निरासक्ति से वीतरागता बढ़ती है। नीरस एवं अल्पभोजी होने तथा संस्कारादि (अस्नान, अदन्तधावन आदि) न करने पर भी स्वस्थ और तेजस्वी होना उनकी आत्मशक्ति का प्रभाव है।

इन मूलगुणों को कभी नहीं छोड़ना चाहिए। जब मूलगुणों के पालन करने में अशक्त हो जाए तो आहार आदि का त्याग करके समाधिमरण ले लेना चाहिए। जैसा कि कहा है– 'जब साधु मूलगुणों के पालन करने में अशक्त हो जाए, शरीर क्षीण हो जाए, आँखों से ठीक दिखालाई न दे तो उसे आहारत्याग करके समाधिमरण ले लेना चाहिए'।[१]

**मूलगुणों का महत्त्व**– वृक्षमूल के समान मुनि के लिए ये अट्ठाईस मूलगुण (न कम और न अधिक ) हैं। इनमें थोड़ी भी कमी उसे साधुधर्म से च्युत कर देती है।[२] मूलगुण-विहीन साधु के सभी बाह्य-योग (क्रियायें) किसी काम के नहीं हैं, क्योंकि मात्र बाह्ययोगों से कर्मों का क्षय सम्भव नहीं है।[३] मूलगुणविहीन साधु कभी सिद्धिसुख नहीं पाता है, अपितु जिन-लिङ्ग की विराधना करता है।[४]

---

१. चक्खुं वा दुब्बलं जस्स होज्ज सोदं वा दुब्बलं जस्स।
जंघाबलपरिहीणो जो ण समत्थो विहरिदुं वा।। –भ०आ० ७३

२. यतेर्मूलगुणाश्चाष्टविंशतिर्मूलवत्तरोः।
नात्राप्यन्यतमेनोना नातिरिक्ताः कदाचन।।७४३
सर्वैरेभिः समस्तैश्च सिद्धं यावन्मुनिव्रतम्।
न व्यस्तैर्व्यस्तमात्रं तु यावदंशनयादपि।। –पं०अ०, उ० ७४४

३. मूलं छित्ता समणो जो गिण्हादि य बाहिरं जोगं।
बाहिरजोगा सव्वे मूलविहूणस्स किं करिस्संति।। –मू०आ० ९२०

४. मोक्षपाहुड ९८



मूलगुणों के बिना उत्तरगुणों में दृढ़ता सम्भव नहीं है। मूलगुणों को छोड़कर उत्तरगुणों के परिपालन में यत्नशील होकर निरन्तर पूजा आदि की इच्छा रखने वाले साधु का प्रयत्न मूलघातक है। जिस प्रकार युद्ध में मस्तक-छेदन की चिन्ता न कर केवल आंगुलि-छेदन की चिन्ता करने वाला मूर्ख योद्धा विनष्ट हो जाता है उसी प्रकार केवल उत्तरगुणों की रक्षा करने वाला साधु विनष्ट हो जाता है। अतएव मूलगुणों के मूल्य पर उत्तरगुणों की रक्षा करना योग्य नहीं है।[१] मूलगुणों की रक्षा करते हुए उत्तरगुणों की रक्षा करना न्यायसंगत है।

### शील के अठारह हजार भेद

ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करना अतिकठिन है। अतएव साधु के ब्रह्मचर्यव्रत (चतुर्थ महाव्रत) में किसी प्रकार की कमी न हो एतदर्थ जिन चेतन और अचेतन स्त्री-सम्बन्धों (कामभोग-संबन्धों) में सावधानी रखनी पड़ती है उन सम्बन्धों की अपेक्षा शील के अठारह हजार भेद (गुण) बतलाए हैं। वस्तुतः पंचेन्द्रियों के विषयों से विरक्त होना ही शील है और ये शील व्रतों के रक्षार्थ हैं। इसके भेद दो प्रकार से किए गए हैं[२]—

---

१. मुक्त्वा मूलगुणान् यतेर्विदधतः शेषेषु यत्नं परं,
दण्डो मूलहरो भवत्यविरतं पूजादिकं वाञ्छतः।
एकं प्राप्तमरेः प्रहारमतुलं हित्वा शिरश्छेदकं,
रक्षत्यङ्गुलिकोटिखण्डनकरं कोऽन्यो रणे बुद्धिमान्।। –पद्मनंदि पञ्चविंशतिका १/४०
तथा देखें, मूलाचार-प्रदीप, ४/३१२-३१९.

२. वद परिरक्खणं सीलं णाम। –ध ८/३.४१/८२
सीलं विसयविरागो। –शील पाहुड ४०
जोए करणे सण्णा इंदिय भोम्मादि समणधम्मे य।
अण्णोण्णेहिं अभत्था अट्ठारहसीलसहस्साहं।। –मू०आ० १०१७
तिण्हं सुहसंजोगो जोगो करणं च असुहसंजोगो।
आहारादी सण्णा फासं दिय इंदिया णेया।।१०१८
पुढविउदगागणिमारुद-पत्तेय अणंतकायिया चेव।
विगतिगचदुपंचेंदिय भोम्मादि हवदि दस एदे।।१०१९
खंती मद्दव अज्जव लाघव तव संजमो आकिंचणदा।
तह होदि बंभचेरं सच्चं चागो य दस धम्मा।। –मू०आ० १०२०

(१) **स्त्री-संसर्ग की अपेक्षा**– (**क**) काष्ठ, पाषाण तथा चित्रों में तीन प्रकार की अचेतन स्त्रियाँ X मन, काय (वचन नहीं) X कृत, कारित, अनुमोदना X पाँच इन्द्रियाँ X द्रव्य, भाव X क्रोध, मान, माया लोभ ये चार कषाय = ७२० (३X२X३X५X२X४= ७२०) भेद। ये अचेतन स्त्री-संसर्ग की अपेक्षा से भेद हैं। (**ख**) देवी, मानुषी तथा तिर्यञ्चिनी ये तीन प्रकार की चेतन स्त्रियाँ X मन, वचन, काय X कृत, कारित, अनुमोदना X पंचेन्द्रियाँ X द्रव्य, भाव X आहार, भय, मैथुन, परिग्रह ये चार संज्ञायें X सोलह कषाय =१७२८० (३ X ३ X ३ X ५ X २ X ४ X १६ = १७२८०) ये चेतन स्त्री-संसर्ग की अपेक्षा से शील के भेद हैं।

कुल योग— ७२० + १७२८० = १८००० भेद (शील-गुण)।

(२) **स्वद्रव्य-परद्रव्य के विभाग की अपेक्षा शील के भेद**— मन, वचन, काय— ये तीन शुभ क्रिया-योग (मन, वचन, काय का शुभकर्म के ग्रहण करने के लिए होने वाले व्यापार को योग कहते हैं) X इन्हीं के अशुभात्मक प्रवृत्ति रूप तीन करण X आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चार संज्ञायें X स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कान ये पाँच इन्द्रियाँ X पृथिव्यादि दस प्रकार के जीव (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, प्रत्येक वनस्पति, साधारण वनस्पति, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय) X दस धर्म (उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य, ब्रह्मचर्य) = १८०००(३ X ३ X ४ X ५ X १० X १० = १८०००) शील के भेद।

## उत्तरगुण (चौरासी लाख उत्तरगुण)

उत्तरगुणों की संख्या निश्चित नहीं रही है। प्रसिद्धि के अनुसार चौरासी लाख उत्तरगुणों की गणना निम्न प्रकार है[१]–

५ पाप + ४ कषाय + ४ दोष (जुगुप्सा, भय, रति और अरति) + ३ मन, वचन, काय की दुष्टतायें + ५ दोष (मिथ्यात्व, प्रमाद, पिशुनत्व, अज्ञान, पँचेन्द्रिय-निग्रह)— इस तरह २१ दोष X अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार दोष X १०० पृथिवी आदि जीवसमास X १० अब्रह्म (शील-विराधना) के दोष X १० आलोचना दोष X १० उत्तम क्षमादि या प्रायश्चित्तादि शुद्धि

१. मूलाचार १०२५, मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन, पृ० १६१-१६४, दर्शनपाहुड-टीका ९/८/१८.



के भेदों के विपरीत दोष = ८४ लाख (२१ X ४ X १०० X १० X १० X १० = ८४०००००) दोष। इन चौरासी लाख दोषों के विपरीत चौरासी लाख उत्तरगुण जानना चाहिए। वस्तुतः बारह तप, बाईस परीषहजय, बारह भावनाएं, पाँच आचार, दश उत्तम-क्षमादि धर्म तथा शील आदि सभी गुण उत्तरगुणों में अन्तर्निहित हैं और ये मूलगुणों के पोषक हैं

## निषिद्ध-कार्य

(१) **शरीर-संस्कार**– पुत्रादि में स्नेहबन्धन से रहित तथा अपने शरीर में भी ममत्व से रहित साधु शरीर-सम्बन्धी कुछ भी संस्कार नहीं करते। नेत्र, दांत, मुख आदि का प्रक्षालन करना, उबटन लगाना, पैर धोना, अंग-मर्दन करना, मुट्ठी से शरीर-ताडन करना, काष्ठ से पीड़ना, धूप से सुवासित करना, विरेचन करना (दस्त हेतु दवा आदि लेना), कण्ठ-शुद्धिहेतु वमन करना, अंजन लगाना, सुगन्धित तैलादि का मर्दन करना, लेप करना, सलाई बत्ती आदि से नासिकाकर्म एवं वस्तिकर्म (एनीमा) करना, शिरावेध (नसों को बेधकर रक्त निकालना) आदि सभी प्रकार के शरीर-संस्कार साधु के लिए निषिद्ध हैं।[१]

(२) **अमैत्री-भाव**– जो साधु मैत्रीभाव-रहित हैं वे कायोत्सर्ग आदि करके भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते। अतएव साधु को सबके प्रति मैत्रीभाव रखना चाहिए।[२]

(३) **क्रोधादि**– क्रोध करना, चंचल होना, चारित्रपालन में आलसी होना, पिशुनस्वभावी होना, गुरुकषाय (तीव्र एवं दीर्घकालिक कषाय) होना— ये सब साधु को त्याज्य हैं।[३]

१. ते छिण्ण-णेहबंधा णिण्णेहा अप्पणो सरीरम्मि।
णं करंति किंचि साहु परिसंठप्पं सरीरम्मि।। ८३८
मुह-णयण-दंतधोयणमुव्वट्टण-पादधोयणं चेव।
संवाहण-परिमद्दण-सरीरसंठावणं सव्वं।। ८३९
धूवणवमण-विरेयण-अंजण-अब्भंगलेवणं चेव।
णत्थुय-वत्थियकम्मं सिरवेज्झं अप्पणो सव्वं।। –मू०आ० ८४०

२. किं तस्स ठाणमोणं किं काहदि अब्भोवगासमादावो।
मेत्तिविहूणो समणो सिज्झदि ण हु सिद्धिकंखो वि।। –मू०आ० ९२६

३. चंडो चवलो मंदो तह साहू पुट्ठिमंस-पडिसेवी।
गारवकसायबहुलो दुरासओ होदि सो समणो।। –मू०आ० ९५७

(४) **आहार-उपकरण आदि का शोधन न करना**— आहार, उपकरण, आवास आदि का विना शोधन किए सेवन करने से साधु मूलगुणों से पतित होकर पोलाश्रमण (खोखला या पतित साधु) होता है।[१]

(५) **वञ्चनादि तथा आरम्भ-क्रियाएँ**– ठगने वाला, दूसरों को पीड़ित करने वाला, मिथ्यादोषों को ग्रहण करने वाला, मारण आदि मन्त्र-शास्त्र अथवा हिंसा-पोषक शास्त्रों को पढ़ने वाला और आरम्भसहित साधु चिरकाल-दीक्षित होकर भी सेवनीय नहीं है।[२]

(६) **विकथा तथा अधःकर्मादि-चर्या**– रागादिवर्धक सांसारिक स्त्रीकथा (काम-कथा), राजकथा (राजाओं के युद्ध आदि की कथा), चोरकथा तथा भक्तकथा (भोजन-सम्बंधी कथा) इन चार विकथाओं अथवा इसी प्रकार की अन्य लौकिक विकथाओं अर्थ कथा, वैर कथा, मूर्ख कथा, परिग्रह कथा, कृषिकथा आदि विकथाओं[३] तथा अधःकर्मदोष (महादोष = निम्नदोष ऐसे आहार, वसति आदि को स्वीकार करना जिसके उत्पादन में छह काय के जीवों की हिंसा हो) से साधु को विरत रहना चाहिए।[४]

(७) **पिशुनता, हास्यादि**– पैशुन्य, हास्य, मत्सर, माया आदि करने से साधु नग्न होकर भी अपयश का पात्र होता है।[५]

(८) **नृत्यादि**– नृत्य करना, गाना, बाजा-बाजाना, बहुमान से गर्वयुक्त होकर निरन्तर कलह करना, वाद-विवाद करना, जुआ खेलना, कन्दर्पादि भावनाओं में निमग्न रहना, भोजन में रसगृद्धि होना, मायाचारी करना, व्यभिचार करना, ईर्यापथ को सोधे बिना दौड़ते हुए या उछलते हुए चलना, गिर पड़ना, पुनः उठकर दौड़ना, महिलाओं में राग करना, दूसरों में दोष निकालना, गृहस्थों

१. पिंडोवधिसेज्जाओ अविसोधिय जो य भुंजदे समणो।
मूलट्ठाणं पत्तो भुवणेसु हवे समणपोल्लो। –मू०आ० ९१८

२. दंभं परपरिवादं पिसुणत्तण पावसुत्त-पडिसेवं।
चिरपव्वइदंपि मुणी आरंभजुदं ण सेवेज्ज।। –मू०आ० ९५९

३. मू०आ० ८५५-८५६; गो०जी०, जी० प्र० ४४/८४/१७, नि०सा०,ता० वृ० ६७

४. विकहाइ विप्पमुक्को आहाकम्माइविरहीओ णाणी।। –रयणसार १००

५. अयसाण भायणेण य किं ते णग्गेण पावमलिणेण।
पेसुण्णहासमच्छरमायाबहुलेण सवणेण।। –भा०पा० ६९



एवं शिष्यों पर स्नेह करना, स्त्रियों पर विश्वास करके उन्हें दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रदान करना (क्योंकि साधु को इनसे दूर रहना चाहिए) आदि। इन कार्यों को करने वाला साधु पार्श्वस्थ (दुष्टसाधु) है, दर्शन-ज्ञान से हीन है तथा तिर्यञ्च या नरक गति का पात्र है।[१]

(९) **वैयावृत्यादि करते समय असावधानी**– वैयावृत्य आदि शुभ-क्रियाओं को करते हुए षट्काय के जीवों को बाधा नहीं पहुँचानी चाहिए।[२] अतएव वैयावृत्यादि शुभक्रियाओं के करते समय समितियों का ध्यान रखकर सावधानी वर्तनी चाहिए, असावधानी नहीं।

(१०) **अधिक शुभोपयोगी-क्रियायें**– शुभोपयोगी-क्रियाओं में अधिक प्रवृत्ति करना साधु को उचित नहीं है, क्योंकि वैयावृत्यादि शुभ-कार्य गृहस्थों के प्रधान-कार्य हैं तथा साधुओं के गौण-कार्य। इसी प्रकार दान, पूजा, शील और उपवास— ये श्रावकों के धर्म हैं, क्योंकि ये धर्म जीवों की विराधना में भी कारण हैं।[३]

१. णच्चदि गायदि तावं वायं वाएदि लिंगरूवेण।
सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो।। ४
कलहं वादं जूआ णिच्चा बहुमाणगव्विओ लिंगी।
वच्चदि णरयं पाओ करमाणो लिंगिरूवेण।। ६
कंदप्पाइय वट्टइ करमाणो भोयणेसु रसगिद्धिं।
मायी लिंग विवाइ तिरिक्खजोणी ण सो समणो।। १२
उप्पडदि पडदि धावदि पुढवीओ खणदि लिंगरूवेण।
इरियावहधारंतो तिरिक्खजोणी ण सो समणो।। १५
रागो करेदि णिच्चं महिलावग्गं परे वा दूसेइ।
दंसण-णाणविहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो।।१७
पव्वज्जहीणगहियं णेहि सासम्मि वट्टदे बहुसो।
आयार-विणयहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो।।१८
दंसणणाणचरित्ते महिलावग्गम्मि देहि वीसट्ठो।
पासत्थ वि हु णियट्ठो भावविणट्ठो ण सो समणो।। –लिङ्गपाहुड २०

२. जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थ मुज्जदो समणो।
ण हवदि अगारी धम्मो सो सावयाणं से।। –प्र०सा० २५०

३. वही, तथा देखें—
दाणं पूजा सीलमुववासो चेति चउव्विहो सावयधम्मो।
एसो चउव्विहो वि छज्जीवविराहओ। –क०पा०, १/१, १/८२/१००/२

(११) **तृण, वृक्ष, पत्रादि का छेदन**– सब जीवों में दयाभाव को प्राप्त साधु पृथिवी पर विहार करते हुए भी किसी जीव को कभी भी कष्ट नहीं पहुँचाते। जैसे— माता सदा पुत्र का हित चाहती है वैसे ही साधु समस्त प्राणियों का हित चाहते हैं। अतएव वे तृण, वृक्ष, हरित, बल्कल, पत्ता, कोंपल, कन्दमूल, फल, पुष्प, बीज आदि का घात (छेदन) न तो स्वयं करते हैं और न दूसरों से कराते हैं।[१] साधु इन कार्यों का अनुमोदन भी नहीं करते हैं।

(१२) **ज्योतिष, मन्त्र, तन्त्र, वैद्यकादि का उपयोग**– ज्योतिष, मन्त्र, तन्त्र, वशीकरण, मारण, उच्चाटन, जल-अग्नि-विष स्तम्भन, विक्रियाकर्म, धन-धान्यग्रहण, वैद्यक आदि का प्रयोग यश अथवा आजीविका के लिए साधु को वर्जित है। दातार को मन्त्रादि का प्रयोग बताना मन्त्रोपजीविका दोष है।[२] इसी प्रकार हस्तरेखा आदि देखकर भूत, भविष्य या वर्तमान का कथन करना भी साधु को त्याज्य है।

(१३) **दुर्जनादि-संगति**– दुर्जन, लौकिक-जन, तरुण-जन, स्त्री, पुंश्चली, नपुंसक, पशु आदि की संगति निषिद्ध है। आर्यिका से भी पांच से सात हाथ दूर रहना चाहिए। पार्श्वस्थ आदि भ्रष्टमुनियों से दूर रहना चाहिए।[३]

(१४) **सदोष-वसतिका-सेवन**– वसतिका-सम्बन्धी दोषों से रहित स्थान का ही साधु को सेवन करना चाहिए।[४]

---

१. वसुधम्मि वि विहरंता पीडं ण करेंति कस्सइ कयाइ।
जीवेसु दयावण्णा माया जह पुत्तभंडेसु।। ८००
तणरुक्खहरिदछेदण तयपत्तपवालकंदमूलाइं।
फलपुप्फबीयघादं ण करेंति मुणी ण कारेंति।। –मू०आ० ८०३

२. जोइसविज्जामंतोपजीणं वा य वस्सववहारं।
धणधण्णपडिग्गहणं समणाणं दूसणं होई।। –र०सार १०९
वश्याकर्षणविद्वेषं मारणोच्चाटनं तथा।
जलानलविषस्तम्भो रसकर्म रसायनम्।। ४.५०
इत्यादिविक्रियाकर्मरञ्जितैर्दुष्टचेष्टितैः।
आत्मानमपि न ज्ञातं नष्टं लोकद्वयच्युतैः। –ज्ञाना० ४.५५
मन्त्रवैद्यकज्योतिष्कोपजीवी राजादिसेवकः संसक्तः।-चारित्रसार १४४/११

३. भ०आ० ३३१-५५४, १०७२-१०८४, प्र०सा०२६८, रयणसार ४२
पंच छ सत्त हत्थे सूरी अज्झावगो य साधू य।
परिहरिऊणज्जाओ गवासणेणेव वंदंति।। –मू०आ० १९५

४. देखें, वसतिका, पृ० १००



(१५) **सदोष आहार-सेवन**– मात्रा से अधिक एवं पौष्टिक भोजन साधु को गृद्धतापूर्वक नहीं करना चाहिए। गृहस्थ के ऊपर भोजन का भार भी नहीं डालना चाहिए। उद्गमादि भोजनसम्बन्धी दोषों से रहित ही भोजन लेना चाहिए।[१]

(१६) **भिक्षाचर्या के नियमों को अनदेखा करना**– भिक्षार्थ वृत्ति करते समय साधु को गृहस्थ के घर में अभिमत स्थान से आगे नहीं जाना चाहिए। छिद्रों से झांककर नहीं देखना चाहिए। अति-तंग और अन्धकारयुक्त प्रदेश में प्रवेश नहीं करना चाहिए। व्यस्त तथा शोकाकुल घर में, विवाहस्थल में, यज्ञशाला में तथा बहुजनसंसक्त प्रदेश में भी प्रवेश नहीं करना चाहिए। विधर्मी, नीचकुलीन, अतिदरिद्री, राजा, अति-धनाढ्य आदि के घर का आहार ग्रहण नहीं करना चाहिए।[२]

(१७) **स्वच्छन्द और एकल विहार**– इस पंचम काल में स्वच्छन्द और अकेले विहार नहीं करना चाहिए।[३]

(१८) **लौकिक-क्रियाएँ**— मोह से अथवा प्रमाद से साधु को लौकिक-क्रियाओं में रुचि नहीं लेनी चाहिए क्योंकि ऐसा करने से वह अन्तरङ्ग व्रतों से च्युत हो जाता है।[४]

साधु के लिए ये कुछ निषिद्ध कार्य गिनाए गए हैं। इसी प्रकार अन्य निषिद्ध-कार्यों की भी कल्पना कर लेनी चाहिए। वस्तुतः साधु के लिए वे सभी कार्य निषिद्ध हैं जिनका हिंसादि से सम्बन्ध हो तथा जो कार्य सांसारिक-विषयों में आसक्तिजनक हों, वीतरागता में प्रतिबन्धक हों, यश आदि की लालसापूर्ति हेतु किए गए हों।

### मिथ्यादृष्टि (द्रव्यलिङ्गी) सदोष साधु

जो साधु मर्यादानुकूल आचरण न करके स्वच्छन्द आचरण करते हैं, आर्तध्यान में लीन रहते हैं, मूर्ख होकर भी अपने को पण्डित मानते हैं, रागी हैं, व्रतहीन हैं तथा शरीरादि के पोषण में प्रवृत्त रहते हैं उन्हें सदोषसाधु, दुष्टसाधु,

---

१. देखें, आहार, पृ० ९६।

२. देखें, भिक्षाचर्या, पृ० ९५।

३. देखें, विहार, पृ० १०३।

४. देखें, पृ० ४९, टि० १

सरागीसाधु, पापश्रमण, पोलाश्रमण, भ्रष्टाचारीसाधु, बाह्यलिङ्गीसाधु, द्रव्यलिङ्गीसाधु, पार्श्वस्थसाधु आदि कहते हैं।[१] इन्हें मूलाचार में अन्दर से घोडे की लीद के समान निंद्य और बाहर से बगुले के समान दिखावटी कहा है।[२] ये आचार्य की आज्ञा का पालन नहीं करते तथा कुत्सित उपदेश आदि के द्वारा अपना और दूसरों का अकल्याण करते हैं। अतः इन्हें पोला-श्रमण (खोखला-साधु या तुच्छ-श्रमण) भी कहा गया हैं।[३]

## मिथ्यादृष्टि साधु के पार्श्वस्थ आदि पाँच भेद

सदोष मिथ्यादृष्टि साधु के पाँच भेद बतलाएँ हैं— १. **पार्श्वस्थ** (निरतिचार संयम का पालन न करने वाला शिथिलाचारी), २. **कुशील**[४] (कुत्सित आचरणयुक्त। मूलगुणों और सम्यक्त्व से भ्रष्ट), ३. **संसक्त**[५] (असंयत गृहस्थों में आसक्त या मन्त्र, ज्योतिष, राजनीति आदि में आसक्त), ४. **अवसन्न या अपसंज्ञक** (चारित्र पालने में आलसी तथा कीचड़ में फँसे हुए व्यक्ति की तरह पथभ्रष्ट)और ५. **मृगचारित्र** (मृग-पशु की तरह आचरण करने वाला, स्वच्छन्द एकाकी-विहारी)।

ये पांचों प्रकार के साधु रत्नत्रय से रहित तथा धर्म के प्रति मन्दसंवेगी

१. मू०आ० प्रदीप अ० ३/४५०-४५७

२. घोडयलद्दिसमाणस्स बाहिर वगणिहुदकरणचरणस्स।
अब्भंतरम्हि कुहिदस्स तस्स दु किं बज्झजोगेहिं।। —मू०आ० ९६६

३. आयरियकुलं मुच्चा विहरदि समणो य जो दु एगागी।
ण य गेण्हदि उवदेसं पावस्समणोत्ति वुच्चदि दु।। —मू०आ० ९६१
पिंडोवधिसेज्जाओ अविसोधिय जोय भुंजदे समणो।
मूलट्ठाणं पत्तो भुवणेसु हवे समणपोल्लो।। —मू०आ० ९१८

४. शीलं च कुत्सितं येषां निंद्यमाचरणं सताम्।
स्वभावो वा कुशीलास्ते क्रोधादिग्रस्तमानसाः।।
व्रतशीलगुणैर्हीना अयशः कारणे भुवि।
कुशला साधुसंगानां कुशीला उदिताः खलाः।। —मू०आ० प्रदीप ३.५८-५९

५. असक्ता दुर्धियो निन्द्याः असंसृतगुणेषु ये।
सदाहारादिगृद्ध्या च वैद्यज्योतिषकारिणः।।
राजादिसेविनो मूर्खा मन्त्रतन्त्रादितत्पराः।
संसक्तास्ते बुधैः प्रोक्ता धृतवेषाश्च लंपटाः।। —मू०आ०, प्रदीप ३.६०-६१



(उत्साहरहित) होते हैं।[१] ये सभी श्रमण जिनधर्मबाह्य हैं।[२] मर्यादा के विपरीत आचरण करने वाले इन द्रव्यलिङ्गी साधुओं की बहुत निन्दा की गई है।[३] ऐसे मोहयुक्त साधुओं से निर्मोही श्रावक को श्रेष्ठ बतलाया गया है। ये दुःखों को तथा नीच गति को प्राप्त करते हैं।[४] इनके लिए ग्रन्थों में राज्यसेवक, ज्ञानमूढ, नटश्रमण, पापश्रमण, अभव्य आदि अनेक प्रकार के अपमानजनक शब्द प्रयुक्त हैं।[५]

## मिथ्यादृष्टि का आगम-ज्ञान

यद्यपि मिथ्यादृष्टियों को शुद्धात्मा का अनुभव नहीं होता परन्तु वे ग्यारह अंग ग्रन्थों के पाठी तथा उनके ज्ञानी हो सकते हैं। ऐसे वे साधु हैं जो पहले ज्ञानी-सम्यग्दृष्टि थे परन्तु कालान्तर में सम्यग्दृष्टि से मिथ्यादृष्टि हो गए। यद्यपि परिणामों की अपेक्षा ये सम्यग्दर्शन से रहित होते हैं, परन्तु इनसे जिनागम का उपदेश सुनकर कितने ही भव्यजीव सम्यग्दृष्टि तथा सम्यग्ज्ञानी हो जाते हैं।[६]

१. पासत्थो य कुसीलो संसत्तोसण्ण मिगचरित्तो य।
दंसणणाणचरित्ते अणिउत्ता मंदसंवेगा।। —मू०अ० ५९५
पार्श्वस्थाः कुशीला हि संसक्तवेशधारिणः।
तथापगतसंज्ञाश्च मृगचारित्रनायकाः।। —मू०आ०, प्रदीप, अ०३,४५३
तथा देखें, भ०आ० १९४९, —चारित्रसार १४३/३
तथा देखें, पृ० ११० वन्दना योग्य कौन नहीं?

२. एते पञ्च श्रमणा जिनधर्मबाह्याः। —चारित्रसार १४४/२

३. भ०आ० २९०-२९३, ३३९-३५९, १३०६-१३१५, १९५२-१९५७

४. ते वि य भणामि हं जे सयलकलासंजमगुणेहिं।
बहुदोसाणावासो सुमलिणचित्तो ण सावयसमो सो।। —भावपाहुड १५५
पासत्थसदसहस्सादो वि सुसीलो वरं खु एक्को वि।
जं संसिदस्स सीलं दंसण-णाण-चरणाणि वड्ढंति।। —भ०आ० ३५४
गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः।। —र०क० ३३
पावंति भावसमणा कल्लाणपरं पराइं सोक्खाइं।
दुक्खाइं दव्वसमणा णरतिरियकुदेवजोणीए।। —भाव पा० १००

५. देखें, जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग २, पृ० ५८९

६. एकादशाङ्गपाठोपि तस्य स्याद् द्रव्यरूपतः।
आत्मानुभूतिशून्यत्वाद् भावतः संविदुज्झितः।। ५.१८
न वाच्यं पाठमात्रत्वमस्ति तस्येह नार्थतः।
यतस्तस्योपदेशाद्वै ज्ञानं विन्दन्ति केचन।। ५.१९
ततः पाठोऽस्ति तेषूच्चैः पाठस्याप्यस्ति ज्ञातृता।
ज्ञातृतायां च श्रद्धानं प्रतीतिः रोचनं क्रिया।। —लाटीसंहिता ५.२०

## सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की पहचान

गुणस्थान प्रतिक्षण बदलता रहता है। हम सर्वज्ञ न होने से किसी के आभ्यन्तर परिणामों को नहीं समझ सकते। बाह्य-व्यवहार से ही सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि का निर्णय करते हैं। निश्चयनय से इसका निर्णय करना संभव नहीं है क्योंकि जितना भी कथन (वचन-व्यवहार) है वह सब व्यवहारपरक ही है। वास्तविक ज्ञान तो सर्वज्ञ को ही संभव है। परिणामों की विशेषता के कारण ही भिन्नदशपूर्वी (१०पूर्वों के ज्ञाता होने पर सिद्ध हुई विद्याओं के लोभ को प्राप्त साधु) भी मिथ्यादृष्टि हैं, क्योंकि उनका महाव्रत भंग हो जाता है और उनमें जिनत्व घटित नहीं होता।[१] अभिन्नदशपूर्वी (जो विद्याओं में मोहित नहीं होते) सम्यग्दृष्टि हैं। उनके महत्त्व को बतलाने के लिए आगम में चौदहपूर्वी (अप्रतिपाती = पुनः मिथ्यात्व को न प्राप्त होने वाला) के पूर्व अभिन्नदशपूर्वी साधुओं को नमस्कार करने का विधान किया गया है।[२] इसका कारण णमोकारमंत्र की तरह सिद्धों से पूर्व अर्हन्तों के नमस्कार जैसा है। विद्याओं की सिद्धि होने पर उनके आकर्षण से जो मोहित हो जाते हैं वे सम्यग्दृष्टि से मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं और जो मोहित नहीं होते वे निरन्तर मुक्ति की ओर अग्रसर होते रहते हैं।

## अपेक्षा-भेद से सच्चे साधुओं के भेद

सच्चे साधुओं (सम्यग्दृष्टि साधुओं) में वस्तुतः कोई भेद न होने पर भी उनके उपयोग आदि अपेक्षाओं से कई प्रकार के भेद किए गए हैं। जैसे-

(क) **उपयोग की अपेक्षा दो भेद –** ज्ञान-दर्शनरूप उपयोग की अपेक्षा दो भेद हैं— १. शुद्धोपयोगी (पूर्ण वीतरागी, निरास्रवी) तथा २. शुभोपयोगी (सरागी, सास्रवी)।[३] शुभोपयोगी साधु अर्हन्त आदि में भक्ति से युक्त होता है

१. तत्थ दसपुव्विणो भिण्णाभिण्णभेएण दुविहा होंति।... एवं ढुक्काणं सव्वविज्जाणं जो लोभं गच्छदि सो भिण्णदसपुव्वी। जो ण तासु लोभं करेदि कम्मखयत्थी होंति सो अभिण्णदसपुव्वी णाम। ण च तेसिं (भिण्णदसपुव्वीणं) जिणत्तमत्थि भग्गमहव्वएसु जिणत्ताणुववत्तीदो। –ध॰ ९/४.१. १२/६९/५, ७०/१

२. चोद्दसपुव्वहराणं णमोक्कारो किण्ण कदो? ण, जिणवयणपच्चयट्ठाणपदुप्पायणदुवारेण... पुव्वं दसपुव्वीणं णमोक्कारो कुदो –ध॰ ९/ ४.१. १२/७०/३

चोद्दसपुव्वहरो मिच्छत्तं ण गच्छदि। –ध॰ ९/४.१.१३/७९/९

३. समणा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्तो ये होंति समयम्हि।
तेसु वि सुद्धुवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा।। –प्र॰सा॰ ३.४५



तथा वृद्धादि साधुओं की वैयावृत्य आदि के निमित्त शुभ-भावों से लौकिक जनों से वार्तालाप कर सकता है।[१] छठे से दशवें गुणस्थानवर्ती साधु सराग चारित्र का धारक होता है। शुद्धोपयोगी साधु आत्मलीन होता है। वह यथाख्यात चारित्र का धारक होता है। यह स्थिति दसवें गुणस्थान के बाद आती है।

(ख) **विहार की अपेक्षा दो भेद–** जिसने जीवादि तत्त्वों को अच्छी तरह जान लिया है उसे एकाकी विहार करने की आज्ञा है, परन्तु जिसने उन्हें अच्छी तरह से नहीं जाना है उसे एकलविहार की आज्ञा नहीं है। सामान्य साधु को संघविहारी होना चाहिए। इस तरह विहार की अपेक्षा एकलविहारी और साधुसंघविहारी ये दो भेद बनते हैं।[२] इस पंचम काल में एकलविहार की अनुमति नहीं है।[३]

(ग) **आचार और संहनन की उत्कृष्टता-हीनता की अपेक्षा दो भेद–** जो उत्तम संहनन के धारी हैं तथा सामायिक चारित्र का पालन करते हैं वे 'जिनकल्पी' (कल्प =आचार, जिनकल्प=जिनेन्द्रदेववत् आचार) तथा जो अल्पसंहनन वाले हैं तथा छेदोपस्थापना चारित्र में स्थित हैं वे 'स्थविरकल्पी' साधु कहलाते हैं।[४] इस पंचम काल में हीन संहनन वाले स्थविरकल्पी साधु हैं। मूलाचार

१. अरहंतादिसु भत्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तसु।
विज्जदि जदि सासण्णे सा सुहजुत्ता भवे चरिया।। –प्र॰सा॰ ३.४६
वेज्जावच्चणिमित्तं गिलाणगुरुबालबुड्ढसमणाणं।
लोगिगजणसंभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा।। –प्र॰सा॰ ३.५३

२. गिहिदत्थे य विहारो विदिओऽगिहिदत्थसंसिदो चेव।
एत्तो तदियविहारो णाणुण्णादो जिणवरेहिं।। –मू॰आ॰ १४८

३. देखें, विहार।

४. दुविहो जिणेहिं कहिओ जिणकप्पो तह य थविरकप्पो य।
जो जिणकप्पो उत्तो उत्तमसंहणणधारिस्स।।
--- जिण इव विहरंति सया ते जिणकप्पे ठिया सवणा।।
–भावसंग्रह (देवसेनकृत) ११९-१२३
थविरकप्पो वि कहिओ... ... ...।
... ... संहणणं अइणिच्चं कालो सो दुस्समो मणो चवलो। -भावसंग्रह- १२४-१३१
जिनकल्पो निरूप्यते...जिना इव विहरन्ति इति जिनकल्पिका।
–भ॰आ॰, वि॰ १५५/३५६/१७

श्रीवर्द्धमानस्वामिना प्राक्तनोत्तमसंहननजिनकल्पचारणपरिणतेषु तदेकधाचारित्रम्। पंचमकालस्थविरकल्पाल्पसंहननसंयमिषु त्रयोदशधोक्तम्। –गो॰कर्म॰/जी॰प्र॰ ५४७/७१४/५

में आया है कि आदिनाथ के काल के जीव सरल-स्वभावी थे, अतः उनका शोधन अति कठिन था। चौबीसवें तीर्थङ्कर के काल के जीव कुटिल हैं, अतः उनसे चारित्र का पालन करवाना कठिन है। इन दोनों कालों के जीव आचार और अनाचार का भेद नहीं कर पाते हैं। अतः इन्हें छेदोपस्थापना चारित्र का कथन किया गया है। दूसरे से तेईसवें तीर्थङ्कर तक के काल के जीव विवेकी थे जिससे उन्हें सामायिकचारित्र का उपदेश दिया गया था।[१]

(घ) **वैयावृत्य की अपेक्षा दश भेद**– वैयावृत्ति के योग्य दस प्रकार के साधु हैं, अन्य नहीं। जब कोई साधु व्याधिग्रस्त हो जाए, या उस पर कोई उपसर्ग आ जाए या वह सत्-श्रद्धान से विचलित होने लगे तो क्रमशः उसके रोग का प्रतिकार करना, संकट दूर करना तथा उपदेशादि से सम्यक्त्व में स्थिर करना वैयावृत्य तप है। जिनकी वैयावृत्ति करनी चाहिए, उनके नाम हैं— १. आचार्य, २. उपाध्याय , ३. तपस्वी, ४.शैक्ष (शिष्य = जो श्रुत का अभ्यास करते हैं), ५. ग्लान(रोगी), ६. गण (वृद्धमुनियों की परिपाटी के मुनि), ७. कुल (दीक्षा देने वाले आचार्य की शिष्य-परम्परा), ८. संघ, ९. साधु (चिरदीक्षित साधु) और १०. मनोज्ञ (लोक में मान्य या पूज्य)[२]। इसी भेद से साधु के दश भेद हैं।

(ङ) **चारित्र-परिणामों की अपेक्षा पुलाकादि पाँच भेद**– चारित्र-परिणामों की अपेक्षा सच्चे साधुओं के पाँच भेद हैं[३]— १. **पुलाक**– उत्तरगुणों की चिन्ता न करते हुए कभी-कभी मूलगुणों में दोष लगा लेने वाले अर्थात् पुआल-सहित चावल की तरह मलिनवृत्ति वाले। ये मरकर बारहवें स्वर्ग तक जा सकते हैं। २. **बकुश**– बकुश का अर्थ है चितकबरा अर्थात् निर्मल आचार में कुछ धब्बे पड़ जाना। मूलगुणों से निर्दोष होने पर भी कमण्डलु, पिच्छी आदि में ममत्व रखने वाले साधु बकुश कहलाते हैं। ये मरकर सोलहवें स्वर्ग तक जा सकते हैं।

१. बावीसं तित्थयरा सामाइयसंजमं उवदिसंति।
छेदुवट्ठावणियं पुण भयवं उसहो य वीरो य।।५३५
आदीए दुव्विसोधण णिहणे तह सुट्ठु दुरणुपाले य।
पुरिमा य पच्छिमा वि हु कप्पाकप्पं ण जाणंति।। –मू.आ. ५३७

२. गुणधीए उवज्झाए तवस्सि सिस्से य दुव्वले।
साहुगणे कुले संघे समणुण्णे य चापदि।। –मू.आ. ३९०
आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्षग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानाम्। –त. सू. ९/२४

३. पुलाक-बकुश-कुशील-निर्ग्रन्थ-स्नातका निर्ग्रन्थाः। –त.सू. ९/४६



३. **कुशील**— इसके दो भेद हैं– प्रतिसेवना-कुशील (कभी-कभी उत्तरगुणों में दोष लगा लेने वाले) और कषाय-कुशील (संज्वलन कषाय पर पूर्ण अधिकार-रहित)। ये मरकर सर्वार्थसिद्धि तक जा सकते हैं। ४. **निर्ग्रन्थ**— इन्हें अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्रकट हो जाता है। इनके मोहनीय कर्म का उदय नहीं रहता। शेष घातिया कर्म भी अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं ठहरते। ये मरकर सर्वार्थसिद्धि तक जा सकते हैं। ५. **स्नातक**— जिनके समस्त घातिया कर्म नष्ट हो गए हैं, ऐसे सयोगकेवली और अयोगकेवली। ये मरकर नियम से मोक्ष जाते हैं।

## पुलाकादि साधु मिथ्यादृष्टि नहीं

ये पाँचों ही साधु सम्यग्दृष्टि हैं तथा उत्तरोत्तर श्रेष्ठ चारित्र वाले हैं। इनमें चारित्ररूप परिणामों की अपेक्षा न्यूनाधिकता के कारण भेद होने पर भी नैगम, संग्रह आदि द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा सभी निर्ग्रन्थ हैं।[१] ये पुलाकादि तीनों प्रकार के मुनि दोषों को दोष मानते हैं तथा उन्हें दूर करने का प्रयत्न करते हैं। अतः इनके ये साधारण दोष इन्हें मुनिपद से भ्रष्ट नहीं करते। जो भ्रष्ट हो और भ्रष्ट होता चला जाए, वह सच्चा मुनि नहीं है। पुलाकादि मुनि छेदोपस्थापना द्वारा पुनः संयम में स्थित होते हैं, अतः सच्चे साधु हैं।

## निश्चय-नयाश्रित शुद्धोपयोगी साधु

जो साधु केवल शुद्धात्मा में लीन होता हुआ अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग व्यापार से रहित होकर निस्तरण समुद्र की तरह शान्त रहता है, स्वर्ग एवं मोक्षमार्ग के विषय में थोड़ा-सा भी उपदेश या आदेश नहीं करता है, लौकिक उपदेशादि से सर्वथा दूर है, वैराग्य की परमोत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त है, अन्तरंग और बहिरंग मोहग्रन्थि को खोलता है, परीषहों और उपसर्गों से पराजित नहीं होता है, कामरूप-शत्रु-विजेता होता है तथा इसी प्रकार अन्य अनेक गुणों से युक्त होता है, वही निश्चय नय से साधु है। ऐसा साधु ही वास्तव में नमस्कार के योग्य है, अन्य नहीं।[२] इसी प्रकार अन्य गुणपरक लक्षण निश्चयसाधु के मिलते हैं, जैसे—

१. त एते पञ्चापि निर्ग्रन्थाः। चारित्रपरिणामस्य प्रकर्षापकर्षभेदे सत्यपि नैगमसंग्रहादिनयापेक्षया सर्वेऽपि ते निर्ग्रन्था इत्युच्यन्ते। –स.सि. ९/४६ विशेष के लिए देखिए, जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग ४, पृ. ४०९

२. आस्ते स शुद्धमात्मानमास्तिघ्नुवानश्च परम्।
स्तमितान्तर्बहिर्जल्पो निस्तरङ्गाब्धिवन्मुनिः।।
.............................
नमस्यः श्रेयसेऽवश्यं नेतरो विदुषां महान्।। –पं.अ.,उ. ६६९-६७४

१. जिसे शत्रु और बन्धुवर्ग, सुख और दुःख, प्रशंसा और निन्दा, ढेला और सुवर्ण, जीवन और मरण सभी में समता है, वही श्रमण है।[१]

२. जो निष्परिग्रही एवं निरारम्भ है, भिक्षाचर्या में शुद्ध-भाव वाला है, एकाकी ध्यान में लीन है तथा सभी गुणों से पूर्ण है, वही साधु है।[२]

३. जो अनन्त ज्ञानादिस्वरूप शुद्धात्मा की साधना करता है वही साधु है।[३]

४. जो निजात्मा को ही रत्नत्रयरूप से देखता है वही निश्चय से साधु है।[४]

## शुद्धोपयोगी साधु की प्रधानता

शुद्धोपयोगी साधु की प्रधानता के सम्बन्ध में अनेक प्रमाण शास्त्रों में मिलते हैं—

१. बगुले की चेष्टा के समान अन्तरङ्ग में कषायों से मलिन साधु की बाह्य-क्रियायें किस काम की? वह तो घोडे की लीद के समान ऊपर से चिकनी और अन्दर से दुर्गन्धयुक्त है।[५]

२. वनवास, कायक्लेशादि तप, विविध उपवास, अध्ययन, मौन आदि क्रियाएँ— ये सब समताभाव से रहित साधु के किसी काम की नहीं हैं।[६]

३. सम्यग्दर्शन के बिना व्रत, मूलगुण, परीषहजय आदि उत्तरगुण, चारित्र, षडावश्यक,ध्यान, अध्ययन आदि सब संसार के कारण हैं।[७]

---

१. समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिदसमो।
समलोट्ठुकंचणो पुण जीवितमरणे समो समणो।। –प्र.सा. २४१

२. णिस्संगो णिरारंभो भिक्खाचरियाए सुद्धभावो य।
एगागी झाणरदो सव्वगुणड्ढो हवे समणो।। –मू.आ. १००२

३. अनन्तज्ञानादिशुद्धात्मस्वरूपं साधयन्तीति साधवः। –ध. १/१.१.१/५१/१

४. स्वद्रव्यं श्रद्धानस्तु बुध्यमानस्तदेव हि।
तदेवोपेक्षमाणश्च निश्चयान्मुनिसत्तमः।। –त. सा. ९/६

५. देखें, पृ. ८०, टि.नं. २

६. किं काहदि वनवासो कायकलेसो विचित्तउववासो।
अज्झयणमौणपहुदी समदारहियस्स समणस्स।। –नि.सा. १२४

७. वयगुणसीलपरीसयजयं च चरियं च तव सडावसयं।
झाणज्झयणं सव्वं सम्मविणा जाण भाव-वीयं।। –र.सार १२७



४. अकषायपना ही चारित्र है। कषाय के वशीभूत होने वाला असंयत है। जब कषायरहित है, तभी संयत है।[१]

५. सब धर्मों का पूर्णरूप से पालन करता हुआ भी यदि आत्मा की इच्छा नहीं करता तो वह सिद्धि को प्राप्त नहीं होता, अपितु संसार में ही भ्रमण करता है।[२]

६. इन्द्रिय-सुखों के प्रति व्याकुल द्रव्यलिङ्गी श्रमण भववृक्ष का छेदन नहीं करते, अपितु भावश्रमण ही ध्यानकुठार से भववृक्ष छेदते हैं।[३]

७. बाह्यपरिग्रह से रहित होने पर भी जो मिथ्यात्वभाव से मुक्त नहीं है वह निर्ग्रन्थ लिङ्ग धारण करके भी परिग्रही है। उसके कायोत्सर्ग, मौन आदि कुछ नहीं होते।[४] ऐसे द्रव्यलिङ्गी श्रमण आगमज्ञ होकर भी श्रमणाभास ही हैं।[५]

## क्या गृहस्थ ध्यानी (भावसाधु) हो सकता है?

निश्चय साधु का स्वरूप जानने के बाद शंका होती है कि क्या गृहस्थी में रहकर भी संयम, ध्यान आदि साधा जा सकता है? यदि सम्भव है तो द्रव्यलिङ्ग (नग्नरूप) धारण करने की क्या आवश्यकता है? हम कह सकते हैं 'हम तो भाव से शुद्ध हैं, बाह्यक्रियाओं से क्या'? परन्तु यह कथन सर्वथा अनुचित है, क्योंकि भावशुद्धि के होने पर बाह्य-शुद्धि आए बिना नहीं रह सकती है। अतः अचार्यों ने बाह्यलिङ्गी और अन्तरङ्गलिङ्गी का समन्वय बतलाया है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं, विपरीत किनारे नहीं हैं। आचार्यों ने गृहस्थ के परमध्यान का निषेध किया है, क्योंकि गृहस्थी की उलझनों में रहने से वह निर्विकल्पी नहीं बन सकता है। कहा है–

---

१. अकसायं तु चारित्तं कसायवसिओ असंजदो होदि।
उवसमदि जम्हि काले तक्काले संजदो होदि। –मू.आ. ९८४

२. अह पुण अप्पा णिच्छदि धम्माइ करेइ णिरवसेसाइं।
तह वि ण पावदि सिद्धिं संसारत्थो पुण भणिदो।। –सूत्र पा. १५

३. जे के वि दव्वसमणा इंदियसुहआउला ण छिंदंति।
छिंदंति भावसमणा झाणकुठारेहिं भवरुक्खं।। –भाव पा. १२२

४. बहिरंगसंगविमुक्को णा वि मुक्को मिच्छभाव णिग्गंथो।
किं तस्स ठाणमउणं ण वि जाणदि अप्पसम्मभावं।। –मोक्षपाहुड ९७

५. आगमज्ञोऽपि...श्रमणाभासो भवति। –प्र.सा., त.प्र. २६४

१. आकाशपुष्प अथवा खरविषाण कदाचित् सम्भव हो जायें, परन्तु गृहस्थ को किसी भी देश-काल में ध्यानसिद्धि सम्भव नहीं है।[१]

२. मुनियों के ही परमात्मध्यान घटित होता है। तप्त लोहे के गोले के समान गृहस्थों को परमात्म-ध्यान सम्भव नहीं है।[२]

३. दान और पूजा, ये श्रावकों (गृहस्थों) के मुख्य कर्म हैं, इनके बिना श्रावक नहीं होता। साधु का मुख्य धर्म ध्यान और अध्ययन है, इनके बिना कोई साधु नहीं होता।[३]

## शुभोपयोगी-साधु : और शुद्धोपयोगी-साधु : समन्वय

जैसा कि ऊपर कहा गया है 'मुनियों के ही आत्मध्यान घटित होता है, गृहस्थों के नहीं'। इससे स्पष्ट है कि शुद्ध आत्मध्यान करने के लिए बाह्यलिङ्ग धारण करना आवश्यक है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं, अलग-अलग किनारे नहीं। अतः शास्त्रों में कहा है– साधु बनते ही शुद्धात्मा का ध्यान संभव नहीं है। अतः साधु बाह्य लिङ्ग को धारण करके पहले शुभोपयोगरूप सरागचारित्र का पालन करता है। पश्चात् अभ्यासक्रम से शुद्धात्मध्यानरूप शुद्धोपयोगी बनता है। दोनों में पूज्यता है।

१. जो मुनिराज सदा तत्त्वविचार में लीन रहते हैं, मोक्षमार्ग (रत्नत्रय) की आराधना जिनका स्वभाव है तथा प्रसङ्गतः निरन्तर धर्मकथा में लगे रहते हैं वे यथार्थ मुनिराज हैं।[४] इस तरह यथावसर रत्नत्रय की आराधना और धर्मोपदेशरूप दोनों क्रियाएँ मुनिराज करते हैं।

२. जो श्रमण [अन्तरंग में] सदा ज्ञान-दर्शन आदि में प्रतिबद्ध रहते हैं और [बाह्य में] मूलगुणों में प्रयत्नशील होकर विचरते हैं वे परिपूर्ण श्रमण हैं।[५]

---

१. खपुष्पमथवा शृङ्गं खरस्यापि प्रतीयते।
न पुनर्देशकालेऽपि ध्यानसिद्धिर्गृहाश्रमे।। –ज्ञानार्णव ४/१७

२. मुनीनामेव परमात्मध्यानं घटते। तप्तलोहगोलकसमानगृहिणां परमात्मध्यानं न संगच्छते।
–मोक्षपाहुड, टीका २/३०५/९

३. दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मे ण सावया तेण विणा।
झाणाझयणं मुक्खं जइ धम्मं ण तं विणा तहा सोवि।। –र॰सार ११

४. तच्चवियारणसीलो मोक्खपहाराहणसहावजुदो।
अणवरयं धम्मकहापसंगादो होइ मुणिराओ।। –र॰सार ९९

५. चरदि णिबद्धो णिच्चं समणो णाणम्मि दंसणमुहम्मि।
पयदो मूलगुणेसु य जो सो पडिपुण्णसामण्णो।। –प्र॰सा॰ २१४



३. शुभोपयोगी का धर्म के साथ एकार्थ-समवाय होने से शुभोपयोगी भी श्रमण हैं, परन्तु शुद्धोपयोगियों के साथ बराबरी सम्भव नहीं है, क्योंकि शुद्धोपयोगी समस्त कषायों से रहित होने से निरास्रवी हैं और शुभोपयोगी कषायकण (अल्पकषाय) से युक्त होने के कारण सास्रवी (आस्रव-सहित) हैं।[१] इससे स्पष्ट है कि शुभोपयोगी और शुद्धोपयोगी दोनों पूज्य हैं। उनमें जो अन्तर है वह पूज्यता के अतिशय में हैं क्योंकि वे गुणस्थानक्रम में ऊपर हैं। परन्तु हम अल्पज्ञ दोनों में अन्तर नहीं कर सकते क्योंकि 'कौन सच्चा आत्मध्यानी है' यह सर्वज्ञ ही जान सकते हैं। हम केवल बाह्य-क्रियाओं से अनुमान कर सकते हैं। बाह्य क्रियाओं के अलावा हमारे पास कोई दूसरा मापदण्ड नहीं है। जो अन्दर से शुद्ध होगा उसकी बाह्य क्रियाएँ भी शुद्ध होंगी। जिसकी बाह्य क्रियाएँ शुद्ध नहीं हैं वह अन्दर से शुद्ध नहीं हो सकता।

४. शुद्धात्म-परिणति से परिणत श्रमण जब उपसर्गादि के आने पर स्वशक्त्यनुसार उससे बचने की इच्छा करता है तब वह शुभोपयोगी का प्रवृत्तिकाल होता है और इससे अतिरिक्त काल शुद्धात्मपरिणति की प्राप्ति के लिए होने से निवृत्तिका काल होता है।[२]

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि श्रमणों के सदा-काल शुद्धात्म-परिणति सम्भव नहीं है। वह तो क्षीणकषाय वाले केवलियों में ही सम्भव है। इससे पूर्वकाल में उपशमश्रेणी के ग्यारहवें गुणस्थान तक तो कम से कम क्षुधादि परीषहों की सम्भावना होने से उनके निवृत्यर्थ शुभोपयोगी बनना ही पड़ता है। सातवें गुणस्थान से लेकर ऊपर के गुणस्थान ध्यानी मुनियों के हैं। छद्मस्थ मुनियों का ध्यान भी अन्तर्मुहूर्त से अधिक समय तक एकरूप नहीं रहता है। ऐसी स्थिति में शुभोपयोग का सर्वथा परित्याग सम्भव नहीं है। क्षपकश्रेणी वाले मुनि भले ही निरन्तर आगे

---

१. ततः शुभोपयोगिनोऽपि धर्मसद्भावाद् भवेयुः श्रमणाः किन्तु तेषां शुद्धोपयोगिभिः समं समकाष्ठत्वं न भवेत्, यतः शुद्धोपयोगिनो निरस्तसमस्तकषायत्वादनास्रवा एव। इमे पुनरनवकीर्णकषायकणत्वात् सास्रवा एव। –प्र॰सा॰/त॰प्र॰ २४५

२. यदा हि समधिगतशुद्धात्मवृत्तेः श्रमणस्य तत्प्रच्यावनहेतोः कस्याप्युपसर्गस्योपनिपातः स्यात् स शुभोपयोगिनः स्वशक्त्या प्रतिचिकीर्षा प्रवृत्तिकालः। इतरस्तु स्वयं शुद्धात्मवृत्तेः समधिगमनाय केवलं निवृत्तिकाल एव। –प्र॰सा॰/त॰प्र॰ २५२

बढ़ जाएँ परन्तु उपशम-श्रेणी वालों को तो कम से कम सातवें गुणस्थान तक अवश्य नीचे उतरना है। इस तरह मुनि की ध्यानावस्था को छोड़कर शेषकाल में मुनि छठे-सातवें गुणस्थान से ऊपर नहीं रहते हैं। इस समय इसे कुछ क्रियायें अवश्य करनी पड़ती हैं जिनमें वह पाँचों समितियों का ध्यान रखता है। ये क्रियायें शुभोपयोगी की होती हैं। अतः शुभोषयोगी मुनि पूज्य नहीं हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। देवसंज्ञक अर्हन्तावस्था के पूर्व जो आचार्य- उपाध्याय-साधु रूप श्रमणावस्था (गुरु-अवस्था) है उसमें व्यवहार और निश्चय दोनों नयों से शुभोपयोगी और शुद्धोपयोगी श्रमणावस्थाओं का समन्वय जरूरी है।

## आहार

### आहार का अर्थ और उसके भेद

सामान्य भाषा में आहार शब्द का अर्थ है 'मुख से ग्रहण किए जाने वाला 'भोजन'। तीन प्रकार के स्थूल शरीरों (औदारिक, वैक्रियक और आहारक) और छह प्रकार की पर्याप्तियों (आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन) के योग्य पुद्गलों (पुद्गलवर्गणाओं) के ग्रहण करने को पारिभाषिक शब्दों में आहार कहते हैं।[१] इस प्रकार का आहार केवल मुख से ही ग्रहण नहीं किया जाता, अपितु शरीर, रोमकूप आदि से भी गृहीत होता है। जैनागमों में विविध प्रकार से आहार के भेदों का उल्लेख मिलता है। जैसे— १. कर्माहारादि, २. खाद्यादि, ३. कांजी आदि और ४. पानकादि।[२] इनमें से कर्माहारादि का विवरण निम्न प्रकार है—

१. **कर्माहार**— जीव के शुभ-अशुभ परिणामों से प्रतिक्षण स्वभावतः कर्मवर्गणाओं (पुद्गल-परमाणुओं) का ग्रहण करना कर्माहार है। यह सभी संसारी जीवों में पाया जाता है।

२. **नोकर्माहार**— शरीर की स्थिति में हेतुभूत वायुमण्डल से प्रतिक्षण स्वतः प्राप्त वर्गणाओं का ग्रहण करना नोकर्माहार है। यह आहार 'केवली' के विशेष रूप से बतलाया गया है।[३] यह आहार औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर वालों के होता है।

१. त्रायाणां शरीराणां षण्णां पर्याप्तीनां योग्यपुद्गलग्रहणमाहारः। —स.सि. २/३०

२. ध. १/१.१.१७६/४०९; मू. आ. ६७६; अन. ध. ७.१३; लाटी सं. २.१६-१७

३. समयं समयं प्रत्यनन्ताः परमाणवोऽनन्यजनासाधारणाः। शरीरस्थितिहेतवः पुण्यरूपाः शरीरे सम्बन्धं यान्ति नोकर्मरूपा अर्हत् उच्यते, न त्वितरमनुष्यवद् भगवति कवलाहारो भवति। —बोधपाहुड ३४



३. **कवलाहार**— जो शरीर-पोषण हेतु बाहर की वस्तु मुख से ग्रहण की जाए वह कवलाहार है। अर्थात् लोकप्रसिद्ध खाद्य, पेय आदि वस्तुओं का मुख द्वारा ग्रहण करना कवलाहार है। 'केवली' के कवलाहार नहीं बतलाया गया है।[१] शेष मुनि कवलाहार लेते हैं।

४. **लेप्याहार**— तेल-मर्दन, उबटन आदि करना। यह मुनि को वर्जित है।

५. **ओजस् आहार** (ऊष्माहार)— पक्षियों के द्वारा अपने अण्डों को सेना ओजस् आहार है।

६. **मानसाहार**— मन में चिन्तन करने मात्र से आहार कि पूर्ति हो जाना मानसाहार है। यह देवों का होता है, वे कवलाहार नहीं करते।

इन आहारों में से यहाँ साधु-प्रकरण में केवल 'कवलाहार' का विशेषरूप से विचार किया गया है क्योंकि कवलाहार के बिना लोक व्यवहार में जीवन धारण करना सम्भव नहीं है। अतः साधु आहार क्यों करे? कैसा करे? कितना करे? कब करे? आदि का विचार यहाँ प्रस्तुत है।

### आहार-ग्रहण के प्रयोजन

निम्न कारणों से साधु आहार लेवे—

१. **शरीर-पुष्टि आदि के लिए नहीं, अपितु संयमादि-पालनार्थ**— बल-प्राप्ति के लिए, आयु बढ़ाने के लिए, स्वाद के लिए, शरीरपुष्टि के लिए, शरीर के तेज को बढ़ाने के लिए साधु आहार (भोजन) नहीं लेते, अपितु ज्ञान-प्राप्ति के लिए, संयम पालने के लिए तथा ध्यान लगाने के लिए लेते हैं।[२]

२. **धर्मसाधन-हेतु, शरीर की क्षुधा-शान्ति तथा प्राणादि-धारणार्थ**— भूख की बाधा उपशमन करने के लिए, संयम की सिद्धि के लिए, स्व-पर की वैयावृत्ति के लिए, आपत्तियों का प्रतिकार करने के लिए, प्राणों की स्थिति बनाये रखने के लिए, षडावश्यक-ध्यान-अध्ययन आदि को निर्विघ्न चलाते रहने के लिए मुनि को आहार लेना चाहिए।[३]

१. वही।

२. ण बलाउसाउअट्ठं ण सरीरस्सुवचयट्ठं तेजट्ठं।
णाणट्ठं संजमट्ठं झाणट्ठं चेव भुंजेज्जो। —मू.आ. ४८१ तथा देखिए, रयणसार ११३

३. क्षुच्छमं संयमं स्वान्यवैयावृत्यसुस्थितम्।
वाञ्छन्नावश्यकं ज्ञानध्यानादींश्चाहरेन्मुनिः।। —अन. ध. ५/६१
वेयणवेज्जावच्चे किरियाठाणे य संयमट्ठाए।
तध पाणधम्मचिंता कुज्जा एदेहिं आहारं ।। —मू.आ. ४७९

जैसे 'गाड़ी का धुरा ठीक से काम करे' एतदर्थ उसमें थोड़ी सी चिकनाई लगाई जाती है वैसे ही प्राणों के धारण के निमित्त मुनि अल्प आहार लेते हैं। प्राणों का धारण करना धर्म-पालन के लिए है और धर्म-पालन मोक्ष-प्राप्ति में निमित्त है।[१] अर्थात् 'शरीर धर्मानुष्ठान का साधन है' ऐसा जानकर मुनि शरीर से धर्म-साधने के लिए प्राणों के रक्षार्थ आहार ग्रहण करते हैं। शरीर से धर्म-साधना के न होने पर सर्वविध आहार-त्यागरूप सल्लेखना ग्रहण करते हैं।

३. **मात्र शरीर-उपचारार्थ औषध आदि की इच्छा नहीं**– ज्वरादि के उत्पन्न होने पर मुनि पीड़ा को सहन करते हैं, परन्तु शरीर के इलाज की इच्छा नहीं करते।[२] यदि श्रावक निरवद्य (शुद्ध) औषधि देवे तो आहार के समय ले सकते हैं परन्तु न तो किसी से मांग सकते हैं और न प्राप्ति की इच्छा कर सकते हैं।

### आहार-त्याग के छः कारण

आतङ्क (आकस्मिक असाध्य रोग आदि), उपसर्ग, ब्रह्मचर्यरक्षा, प्राणिदया, तप और सल्लेखना (शरीर-परित्याग)– इन छः कारणों अथवा इनमें से किसी एक कारण के उपस्थित होने पर साधु को आहार का परित्याग कर देना चाहिए।[३]

### आहार-विधि आदि

दिगम्बर जैन साधु इन्द्रियों को वश में रखने के लिए, संयम पालन करने के लिए दिन के मध्याह्न में एक बार[४], संकेतादि बिना किए, मौनपूर्वक[५], खड़े-

१. अक्खोमक्खणमेत्तं भुंजंति मुणी पाणधारणणिमित्तं।
पाणं धम्मणिमित्तं धम्मं पि चरंति मोक्खट्ठं।। –मू.आ. ८१७
तथा देखिए, र. सा. ११६; पद्म पु. ४/९७; अन. ध. ४/१४०; ७/९

२. उप्पण्णम्मि य वाही सिरवेयण कुक्खिवेयणं चेव।
अधियासिंति सुधिदिया कायतिगिंछं ण इच्छंति।। –मू.आ. ८४१

३. आदंके उवसग्गे तिरक्खणे बंभचेरगुत्तीओ।
पाणिदयातवहेऊ सरीरपरिहार वोच्छेदो।। –मू. आ. ४८०

४. उदयत्थमणे काले णालीतियवज्जियम्हि मज्झम्हि।
एकम्हि दुअ तिए वा मुहुत्तकालेयभत्तं तु।। –मू. आ. ३५
एकं खलु तं भत्तं अप्पडिपुण्णोदरं जधालद्धं।
चरण भिक्खेण दिवा ण रसवेक्खं ण मधु मंसं।। –प्र. सा. २२९

५. ण वि ते अभित्थुणंति य पिंडत्थं ण वि य किंचि जायंति।
मोणव्वदेण मुणिणो चरंति भिक्खं अभासंता।। –मू.आ. ८१७
भिक्षां परगृहे लब्धां निर्दोषां मौनमास्थिताः। –पद्मपुराण ४/९७



खड़े[१], अञ्जलि बांधकर, पाणिपात्र में[२], भिक्षाचर्या से यथालब्ध[३] नवकोटिविशुद्ध आहार को गृहस्थ के ही घर पर[४] ग्रहण करते हैं। वह आहार छियालीस दोषों से रहित[५], शुद्ध[६], पुष्टिहीन, रसहीन[७] तथा नवधाभक्तिपूर्वक दिया गया[८] होना चाहिए। साधु को आहार लेते समय लोलुपता और स्वच्छन्दता का प्रदर्शन न करते हुए[९] आगम प्रमाणानुसार ही भूख से कम खाना चाहिए।[१०]

**आहार का प्रमाण**- सामान्य रूप से पुरुष के आहार का प्रमाण बत्तीस ग्रास है और स्त्रियों का अट्ठाईस ग्रास है।[११] इतने से उनका पेट भर जाता है। साधु के सन्दर्भ में कहा है कि उसे पेट के चार भागों में से दो भाग अन्नादि से तथा एक भाग जल से भरना चाहिए। शेष एक भाग वायु संचारणार्थ खाली रखना चाहिए।[१२]

१. अंजलिपुडेण ठिच्चा कुड्डादि विवज्जणेण समपायं।
पडिसुद्धे भूमितिए असणं ठिदि भोयणं णाम।। –मू. आ. ३४
णवकोडीपरिसुद्धं दसदोसविवज्जियं मलविसुद्धं।
भुंजंति पाणिपत्ते परेण दत्तं परघरम्मि।। –मू.आ. ८१३

२. वही।

३. देखें, पृ. ९२, टि. ५

४. वही।

५. मूलाचार ४२१, ४८२, ४८३,८१२

६. वसुनंदि श्रावकाचार २३१, लाटी संहिता २/१९-३२

७. मूलाचार ४८१, ८१४, तथा देखें, पृ. ९२, टि. ४

८. मूलाचार ४८२

९. धावदि पिंडणिमित्तं कलहं काऊण भुंजदे पिंडं।
अवरूपरूई संतो जिणमग्गि ण होई सो समणो।। –लिङ्गपाहुड १३

१०. बत्तीसं किर कवला आहारो कुक्खिपूरणो होई।
पुरिसस्स महिलियाए अट्ठावीसं हवे कवला।। –भ.आ. २११
अद्धमसणस्स सव्विंजणस्स उदरस्स तदियमुदयेण।
वाऊ संचरणट्ठं चउत्थमवसेसये भिक्खू।। –मू.आ.४९१

११. वही।

१२. वही।

**आहार लेने का काल–** सूर्य के उदय और अस्तकाल की तीन घड़ी (२४ मिनट की एक घड़ी) छोड़कर मध्याह्नकाल में एक, दो या तीन मुहूर्त तक साधु आहार ले सकता है।[१]

**आहार के समय खड़े होने की विधि–** समान और छिद्ररहित जमीन पर ऐसा खड़ा होवे जिससे दोनों पैरों में चार अंगुल का अन्तराल रहे। स्थिर और समपाद खड़ा होवे। दीवाल वगैरह का सहारा न लेवे। भोजन के समय अपने पैरों की भूमि, जूठन पड़ने की भूमि तथा जिमाने वाले के प्रदेश की भूमि— इन तीनों भूमियों की शुद्धता का ध्यान रखे।[२] जब तक खड़े होकर भोजन करने की सामर्थ्य है तभी तक भोजन करे।[३]

## क्या एकाधिक साधु एकसाथ एक चौके में आहार ले सकते हैं?

आहार देते समय गृहस्थ को चाहिए कि जिस मुनि को देने के लिए हाथ में आहार ले वह आहार उसी मुनि को देना चाहिए, अन्य मुनि को नहीं। यदि कोई मुनि अन्य के निमित्त दिए जाने वाले आहार को लेता है तो उसे छेद-प्रायश्चित्त करना होगा।[४] इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं– १. एक चौके में एक साथ एकाधिक साधु आहार ले सकते हैं, तथापि २. आहार लेते समय विशेष सावधानी वर्तना आवश्यक है। यहाँ इतना विशेष ज्ञातव्य है कि जब मुनि एक साथ एक घर में आहार लेवें तो श्रावक उन्हें ऐसा खड़ा करे जिससे दोनों आमने-सामने न हों (पीठ से पीठ हो), अन्यथा एक को अन्तराय आने पर दूसरे को भी अन्तराय हो जायेगा। यह एक अपवाद व्यवस्था है। अतः ध्यान रहे कि न तो मूलव्रत भंग हो और न असंगतियाँ पैदा हों।

---

१. देखें, पृ॰ ९२, टि॰ नं॰ ४ तथा आचारसार १/४९

२. देखें, पृ॰ ९३, टि॰नं॰ १ तथा अनगारधर्मामृत ९/९४
समे विच्छिद्रे भूभागे चतुरङ्गुलपादान्तरो निश्चलः कुड्यस्तम्भादिकमनवलम्ब्य तिष्ठेत्।
—भ॰आ॰/वी॰ १२०६/१२०४/१५

३. यावत्करौ पुटीकृत्य भोक्तुमुद्भः क्षमेऽदम्यहम्।
तावन्नैवान्यथेत्यागूसंयमार्थं स्थिताशनम्।। —अन॰ध॰ ९/९३

४. पिण्डः पाणिगतोऽन्यस्मै दातुं योग्यो न युज्यते।
दीयते चेन्न भोक्तव्यं भुङ्क्ते चेच्छेदभाग् यतिः ।। —योगसार ८/६४



## क्या चौके के बाहर से लाया गया आहार ग्राह्य है?

चौके के बाहर से लाया गया आहार ग्राह्य है यदि वह सरल पंक्ति (सीधी-पंक्तिबद्ध) से तीन अथवा सात घरों से लाया गया हो। यदि वह आहार बिना पंक्ति के यहाँ वहाँ के घरों से लाया गया हो तो अग्राह्य है।[१]

## भिक्षाचर्या को जाते समय सावधानी

मुनि भिक्षा के लिए पंक्तिबद्ध घरों में जाते हैं। पंक्तिबद्ध घरों में कुछ उच्चवर्ग के, कुछ साधारणवर्ग के तथा कुछ मध्यमवर्ग के श्रावक हो सकते हैं। कोई घर अज्ञात (अपरिचित), तो कोई अनुज्ञात (परिचित) हो सकता है। मुनि इन सब में बिना भेद किए हुए आहारार्थ निकले।[२] इससे आहार में गृद्धता नहीं आती है।

## आहार लेते समय सावधानी

यदि कोई स्त्री अपने बालक को स्तनपान करा रही हो या गर्भिणी हो तो ऐसी स्त्रियों का दिया हुआ आहार नहीं लेना चाहिए। रोगी, अतिवृद्ध, बालक, उन्मत्त, अंधा, गूंगा, अशक्त, भययुक्त, शंकायुक्त, जो अतिशय नजदीक खड़ा हो, जो दूर खड़ा हो ऐसे पुरुषों से आहार नहीं लेना चाहिए। जिसने लज्जा से अपना मुख फेर लिया हो, जिसने जूता-चप्पल पर पैर रखा हो, जो उंची जगह पर खड़ा हो ऐसे पुरुषों के द्वारा दिया गया आहार भी नहीं लेना चाहिए। टूटी हुई कलछुल से दिया हुआ भी आहार नहीं लेना चाहिए।[३]

## दातार के सात गुण

जो दाता निदान (फल की इच्छा) से रहित है तथा श्रद्धा, भक्ति, विज्ञान, सन्तोष, शक्ति, अलुब्धता और क्षमा— इन सात गुणों से युक्त है वही दातार प्रशंसनीय है।[४] ये गुण कहीं-कहीं भिन्न रूपों में भी मिलते हैं।[५]

---

१. उज्जू तिहिं सत्तहिं वा घरेहिं जदि आगदं दु आचिण्णं।
परदो वा तेहिं भवे तव्विवरीदं आणाचिण्णं ।। —मू॰आ॰ ४३९

२. अण्णादमणुण्णादं भिक्खं णिच्चुच्चमज्झिमकुलेसु।
घरपंतिहिं हिंडंति य मोणेण मुणी समादिंति।। —मू॰आ॰८१५

३. स्तनं प्रयच्छन्त्या गर्भिण्या वा दीयमानं न गृहणीयात्। रोगिणा अतिवृद्धेन बालेनोन्मत्तेन पिशाचेन मुग्धेनान्धेन मूकेन दुर्बलेन भीतेन शङ्कितेन, अत्यासन्नेन अदूरेण लज्जाव्यावृतमुख्या आवृतमुख्या उपानदुपरिन्यस्तपादेन वा दीयमानं न गृहणीयात्। खण्डेन भिन्नेन वा कडकककच्छुकेन दीयमानं वा। —भ॰आ॰/वि॰ १२०६/१२०४/१७

४. श्रद्धा भक्तिश्च विज्ञानं पुष्टिः शक्तिरलुब्धता।
क्षमा च यत्र सप्तैते गुणाः दाता प्रशस्यते।। —गुणनन्दी श्रावकाचार १५१

५. रा॰वा॰ ७/३९; महा पु॰ २०/८२-८५; स॰सि॰ ७/३९; पु॰सि॰उ॰ १६९

### आहार के अन्तराय

आहार-सम्बन्धी कुछ अन्तराय निम्न हैं, जिनके उपस्थित होने पर साधु को आहार त्याग देना चाहिए–

१. कौआ आदि पक्षी वीट कर दे, २. विष्ठा आदि मल पैर में लग जाए, ३. वमन हो जाए, ४. कोई रोक दे, ५. रक्तस्राव दिखलाई दे, ६. अश्रुपात हो, ७. खुजली आदि होने पर जंघा के निचले भाग का स्पर्श हो जाए, ८. घुटनों के ऊपर के अवयवों का स्पर्श हो जाए, ९. दरवाजा इतना छोटा हो कि नाभि से नीचे झुकना पड़े, १०.त्यागी हुई वस्तु का भक्षण हो जाए, ११. कोई किसी जीव का वध कर देवे, १२. कौआ आदि हाथ से आहार छीन ले, १३. पाणिपात्र से ग्रास गिर जाए, १४. कोई जन्तु पाणिपात्र में स्वयं गिरकर मर जाए, १५. मांस, मद्य आदि दिख जाए, १६. उपसर्ग आ जाए, १७. दोनों पैरों के मध्य से कोई पञ्चेन्द्रिय जीव निकल जाए, १८. दाता के हाथ से कोई वर्तन गिर जाए, १९. मल विसर्जित हो जाए, २०. मूत्र विसर्जित हो जाए, २१. चाण्डालादि के घर में प्रवेश हो जाए, २२. मूर्च्छा आ जाए, २३. भोजन करते-करते बैठ जाए, २४. कुत्ता, बिल्ली आदि काट ले, २५ सिद्ध-भक्ति कर लेने के बाद हाथ से भूमि का स्पर्श हो जाए, २६. आहार करते समय थूक-खकार आदि निकल आए, २७. पेट से कीड़े निकल पड़े, २८. दाता के द्वारा दिए बिना ही कोई वस्तु ले लेवे, २९. तलवार का प्रहार होवे, ३०. ग्रामादि में आग लग जाए, ३१. भूमि पर पड़ी हुई वस्तु को पैर से उठाकर ले लेवे, ३२. गृहस्थ की किसी वस्तु को मुनि अपने हाथ में सम्हाले रखे।[१] इसी प्रकार की अन्य परिस्थितियों के आने पर साधु को आहार का त्याग कर देना चाहिए।

### छियालीस दोषों से रहित आहार की ग्राह्यता

साधु को ऐसा आहार लेना चाहिए जो उद्गमादि छियालीस दोषों से रहित हो। इन छियालीस दोषों को मुख्यतः आठ दोषों में समाहित किया गया है।[२] जैसे–

१. मूलाचार ४९५-५००

२. उग्गम उप्पादन एसणं च संजोजणं पमाणं च।
इंगाल धूमकारण अट्ठविहा पिंडसुद्धी दु।। –मू॰आ॰ ४२१
तथा देखिए, मूलाचार ४२२-४७७;भ॰ आ॰, वि॰ ४२१/६१३/९



१. **उद्गम दोष**– यह गृहस्थ-दाता सम्बन्धी दोष है। औद्देशिक आदि के भेद से यह सोलह प्रकार का है।

२. **उत्पादन दोष**–यह मुनि के अभिप्राय आदि से सम्बन्धित दोष हैं। धात्री आदि के भेद से यह सोलह प्रकार का है।

३. **एषणा (अशन) दोष**– यह परोसने वाले गृहस्थ तथा आहार लेने वाले साधु दोनों से सम्बन्धित है। इसमें शुद्धा-शुद्धि का विचार न करना ही दोष का कारण है। यह दस प्रकार का है।

४. **संयोजना दोष**– शीत-उष्ण अथवा स्निग्ध-रुक्ष पदार्थों को मिलाना।

५. **प्रमाण दोष**– प्रमाण से अधिक भोजन करना।

६. **इंगाल या अंगार दोष**– स्वादिष्ट भोजन में लालच होना।

७. **धूमदोष**– नीरस-कटु भोजन में अरुचि होना।

८. **कारणदोष**– आहार-ग्रहण करने के कारणों के विरुद्ध कारणों के होने पर भी आहार लेना।

इस तरह उद्गम के सोलह, उत्पादन के सोलह, एषणा के दस तथा संयोजनादि चार दोषों को मिलाने से आहारसम्बन्धी छियालीस दोष होते हैं। यहाँ कारण दोष को अलग से नहीं जोड़ा गया है। क्योंकि आहार-ग्रहण के कारण होने पर ही साधु आहार लेता है और आहार लेते समय जिन छियालीस दोषों को बचाना है वे ही यहाँ लिए गए हैं।

### उद्गम के सोलह दोष

१. **औद्देशिक**[१] (उद्देश्य करके बनाया गया भोजन), २. **अध्यधि** (पकते भोजन में थोड़ा बढ़ा देना अथवा किसी बहाने साधु को रोक रखना, जिससे भोजन तैयार हो जाए), ३. **पूतिकर्म** (अप्रासुक द्रव्य से मिश्रित प्रासुक द्रव्य), ४. **मिश्र** (मिथ्या साधुओं के साथ संयत साधुओं को देना), ५. **स्थापित दोष**

१. इस दोष के सम्बन्ध में बहुत भ्रम है। मेरी इस दोष के सम्बन्ध में पं. जगन्मोहन लाल जी से वार्ता हुई थी, जिसका सार इस प्रकार है– प्रकृत में उद्दिष्ट के चार अर्थ संभव हैं– १. जैन साधु-विशेष के लिए बनाया गया भोजन, २. जैनेतर साधु के लिए बनाया गया भोजन, ३. दीन-दुःखियों के लिए बनाया गया भोजन और ४. जिस किसी के लिए बनाया

(पके भोजन को निकालकर दूसरे बर्तन में रख देना), ६. **बलिदोष** (यक्ष आदि के निमित्त बनाये गए भोजन में से बचे हुए अन्न को देना), ७. **प्राभृत** या **प्रावर्तित** (काल की हानि या वृद्धि करके आहार देना), ८. **प्रादुष्कार** (आहारार्थ आने पर वर्तन वगैरह साफ करना, दीपक जलाना, लीपना-पोतना), ९. **क्रीत** (खरीदकर आहार देना), १०. **प्रामृष्य** या **ऋण** (उधार लेकर आहार देना), ११. **परिवर्त** (भोजन दूसरे से बदलकर देना), १२. **अभिघट** (पंक्तिबद्ध सात घर के अतिरिक्त घर से लाकर देना), १३. **उद्भिन्न** (बन्द पात्रों का ढक्कन खोलकर देना), १४. **मालारोहण** (सीढ़ी आदि से घर के ऊपरी भाग पर चढ़कर वहाँ से अटारी आदि पर रखी वस्तु लाकर देना), १५. **आछेद्य** (चोर आदि को साधु का भय दिखाकर उनसे छीनी गई वस्तु देना), और १६. **अनीशार्थ** (अनिच्छुक दातारों से दिया गया आहार। इसमें सभी लोग दान के इच्छुक नहीं होते)। यद्यपि ये दोष दाता से सम्बन्धित हैं, परन्तु साधु को इस विषय में सावधानी वर्तनी चाहिए। यदि इन दोषों को दाता के मत्थे डालकर उपेक्षा करेगा तो साधु को दोष लगेगा। क्रीत, मालारोहण आदि दोष इसलिए गिनाए गए हैं कि गृहस्थ के ऊपर भार न पड़े तथा वह अनावश्यक कष्ट न उठावे।

### उत्पादन के सोलह दोष

१.**धात्री** (धात्री कर्म=स्नानादि सेवा-कर्म का उपदेश देकर आहार प्राप्त करना), २. **दूत** (सन्देश भेजने रूप दौत्य-कर्म से आहार प्राप्त करना), ३. **निमित्त** (शुभाशुभ निमित्तों को बतलाकर आहार लेना), ४. **आजीव** (जाति,

गया भोजन= दानशालाओं का भोजन। दानशालाओं का भोजन इसलिए ग्राह्य नहीं है क्योंकि वहाँ न तो शुद्धता रहती है और न आदरभाव । प्रथम तीन उद्दिष्ट प्रकारों का भोजन ग्रहण दूसरों के अधिकार को छीनना है। अतः उसे भी नहीं लेना चाहिए। अब यदि उद्दिष्टत्याग का अर्थ 'आरम्भत्यागी साधु को उद्देश्य करके बनाया गया भोजन त्याज्य है' ऐसा अर्थ करेंगे तो या तो साधु को वर्तमान काल में भोजन ही नहीं मिलेगा या फिर अशुद्ध मिलेगा। आज दिगम्बर जैन साधु के अनुकूल भोजन गृहस्थ के घर प्रायः नहीं बनता है। निमन्त्रण साधु स्वीकार नहीं कर सकता है। गृहस्थ अतिथि-संविभाग व्रत पालन करता है। वह योग्य पात्र को दान देने हेतु शुद्ध भोजन बनाता है, अतिथि मुनि के न आने पर गृहस्थ स्वयं उस भोजन को खाता है। यदि उद्दिष्टत्याग का अर्थ सर्वथा आरम्भत्याग अर्थ करेंगे तो साधु को दवा कैसे दी जायेगी? अन्यथा श्रावक को भी दवा खानी पड़ेगी। अतः उद्दिष्टत्याग का अर्थ है जो किसी विशेष जीव के उद्देश्य से न बना हो तथा नवकोटिविशुद्ध हो।



तप, शिल्प आदि क्रियाओं को बताकर तथा अपने को श्रेष्ठ बताकर आहार प्राप्त करना), ५. **वनीपक** (दाता के अनुकूल वचनों को कहकर आहार प्राप्त करना), ६. **चिकित्सा** (चिकित्साविज्ञान बताकर आहार प्राप्त करना), ७-१० **क्रोध-मान-माया-लोभ** ('तुम क्रोधी हो', 'तुम घमण्डी हो' आदि कहकर आहार देने हेतु तैयार करना, ११-१२ **पूर्व-पश्चात् संस्तुति** (दान के पूर्व अथवा बाद में दाता की प्रशंसादि करना, जिससे अच्छा आहार मिले), १३-१४. **विद्या-मंत्र** (विद्याओं और मन्त्रों के प्रयोग बतलाना, जिससे आहार अच्छा मिले), १५. **चूर्ण** (अंजन-चूर्ण आदि बतलाकर आहार प्राप्त करना) और १६. **मूलकर्म** (वियोगी स्त्री-पुरुषों को मिलाना, अवशों को वशीभूत करना आदि क्रियाओं को करके आहार प्राप्त करना)। ये दोष मुनि से सम्बन्धित हैं। अतः मुनि को ये कार्य आहार के निमित्त नहीं करना चाहिए। यदि मुनि इन दोषों की उपेक्षा करता है तो वह एक प्रकार से धात्री आदि कार्यों को करके आजीविका करने वाला गृहस्थ-सा बन जाता है।

### एषणा के दस दोष

१. **शंकित** (आहार लेने योग्य है या नहीं, ऐसी शंका होना), २. **म्रक्षित** (चिकनाई आदि से युक्त हाथ आदि से दिया गया आहार। अतः हाथ ठीक से धोकर पोंछ लेना चाहिए), ३. **निक्षिप्त** (सचित्त एवं अप्रासक वस्तुओं पर रखा आहार), ४. **पिहित** (अप्रासुक वस्तु से ढके हुए को खोलकर दिया गया आहार), ५. **संव्यवहरण** (लेन-देन शीघ्रता से करना ), ६. **दायक** (बालक का शृङ्गार आदि कर रही स्त्री, मद्यपायी, रोगी, मुरदे को जलाकर आया सूतक वाला व्यक्ति, नपुंसक, पिशाचग्रस्त,, नग्न, मलमूत्र करके आया हुआ, मूर्च्छाग्रस्त, वमन करके आया व्यक्ति, रुधिरसहित, दासी, वेश्या, श्रमणी, तेल मालिस करने वाली, अतिबाला, अतिवृद्धा, जूठे मुंह, पाँच माह या उससे अधिक के गर्भ से युक्त स्त्री, अन्धी, सहारे से बैठी हुई, ऊंची जगह पर बैठी हुई, नीची जगह पर बैठी हुई, अग्निकार्य में संलग्न, लीपने-पोतने आदि में संलग्न, दूध-पीते बच्चे को छोड़कर आई स्त्री; इत्यादि स्त्री-पुरुषों से आहार लेना), ७. **उन्मिश्र** (पृथिवी, जल, हरित, बीज एवं त्रस जीवों से मिश्रित अथवा गर्म-उष्ण पदार्थों से मिश्रित आहार), ८. **अपरिणत** (पूर्ण पका भोजन हो, अधपका नहीं। जहाँ पानी की कमी है वहाँ तिल का धोवन, तण्डुलोदक आदि), ९. **लिप्त** (गेरु, हरिताल

आदि से लिप्त या गीले हाथ या गीले बर्तन से आहार देने पर आहार लेना) और १०. **छोटित** या **त्यक्त** (प्रतिकूल पदार्थों को नीचे गिराते हुए या जूठन गिराते हुए भोजन लेना अथवा प्रमादवश दातार गिरावे तब भी आहार लेना)। ये एषणा सम्बन्धी दोष हैं जो आहार लेते समय संभव हैं। इनका सम्बन्ध मुनि और श्रावक दोनों से है। अतः दोनों की सावधानी अपेक्षित है।

### संयोजनादि चार दोष

संयोजना, प्रमाण, इंगाल और धूमदोष। इनका वर्णन पृष्ठ सत्तानबे पर किया जा चुका है।

### अन्य दोष

इन दोषों के अतिरिक्त कुछ अन्य दोषों का भी उल्लेख मिलता है। जैसे— **चौदह मलदोष**[१]—नख, रोम, जंतु, हड्डी, कण (गेहूं, चावल आदि का कण), कुण्ड (धान्यादि के सूक्ष्म अंश), पीप, चमड़ा, रुधिर, मांस, बीज, सचित्त फल, कन्द (सूरण, मूली, अदरख आदि) और मूल (पिप्पली आदि जड़)।

### अधःकर्म दोष

गृहस्थ के आश्रित जो चक्की आदि आरम्भ रूप कर्म हैं उन्हें अधःकर्म कहते हैं। साधु उनका प्रारम्भ से ही त्यागी होता है। यदि वह इन कर्मों को करता है, तो उसके साधुपना नहीं रहेगा।

यहाँ शास्त्रोक्त दोष गिनाए हैं। यदि मूलगुणों या उत्तरगुणों में हानि हो तो इसी प्रकार देशकालानुसार अन्य दोषों की भी कल्पना कर लेनी चाहिए।

## वसतिका (निवासस्थान)

ठहरने का स्थान वसतिका कहलाता है। जो स्थान ध्यान, अध्ययन आदि के लिए उपयुक्त हो तथा संक्लेश आदि परिणामों को उत्पन्न करने वाला न हो, वह स्थान साधु के ठहरने के लिए उपयुक्त है।

### वसतिका कैसी हो?

आहार-प्रकरण में गिनाए गए उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषों से रहित वसतिका होनी चाहिए। उद्गमादि आहार-सम्बन्धी दोषों का वसतिका के साथ

१. णहरोमजंतुअट्ठी-कण कुंडयपूयचम्मरुहिरमंसाणि।
बीयफलकंदमूला छिण्णाणि मला चद्दसा होंति।। –मूला० ४८४



तदनुकूल अर्थ कर लेना चाहिए। जिसमें जीव-जन्तुओं का निवास न हो, बाहर से आकर जिसमें कोई प्राणी निवास न करता हो, संस्काररहित (सजावटरहित) हो, जिसमें प्रवेश और निकास सुखपूर्वक हो सकता हो, जहाँ पर्याप्त प्रकाश हो, जिसके किबाड़ और दीवारें मजबूत हों, जो गाँव या नगर के बाहर या प्रान्तभाग में हो, जहाँ बालक, वृद्ध तथा चार प्रकार के गण (मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका) आ जा सकते हों, जो दरवाजा-सहित या दरवाजा-रहित हो तथा जो या तो समभूमि या विषमभूमि-युक्त हो, ऐसी एकान्त वसतिका मुनि को उपयुक्त है।[१]

### शून्यगृहादि उपयुक्त वसतिकायें हैं

शून्यघर (छोड़ा गया या वीरान घर), पर्वतगुफा, पर्वत-शिखर, वृक्षमूल, अकृत्रिम घर, श्मशान भूमि, भयानक वन, उद्यानघर, नदी का किनारा आदि ये सब उपयुक्त वसतिकायें हैं।[२] इनके अतिरिक्त अनुद्दिष्ट देव-मन्दिर, धर्मशालायें, शिक्षाघर (पब्भार) आदि भी उपयुक्त वसतिकायें हैं।[३] आत्मानुशासन में साधुओं द्वारा वन में निवास को छोड़कर ग्राम अथवा नगर के समीप रहने पर खेद प्रकट करते हुए कहा है– 'जिस प्रकार मृगादि रात्रि के समय सिंहादि के भय से गाँव के निकट आ जाते हैं उसी प्रकार इस कलिकाल में मुनिजन वन को छोड़कर गावों के समीप रहने लगे हैं, यह कष्टकर है। अब यदि ग्रामादि में रहने से कालान्तर में स्त्रियों के कटाक्षरूपी लुटेरों के द्वारा साधु के द्वारा ग्रहण किया गया तप (साधुचर्या) हरण कर लिया जाए तो

१. उग्गम-उप्पादण-एसणाविसुद्धाए अकिरियाए हु।
वसइ असंसत्ताए णिप्पाहुडियाए सेज्जाए।।
सुहणिक्खवण पवेसुणधणाओ अवियड अणंध याराओ।। ६३७
घणकुड्डे सकवाडे गामबहिं बालबुड्ढगणजोग्गे।। ६३८
वियडाए अवियडाए समविसमाए बहिं च अंतो वा। –भ०आ० २२९

२. गिरिकंदरं मसाणं सुण्णागारं च रुक्खमूलं वा।
ठाणं विरागबहुलं धीरो भिक्खू णिसेवेऊ।। –मू०आ० ९५२
सुण्णघरगिरिगुहारुक्खमूल..... विचित्ताईं। –भ०आ० २३१
उज्जाणघरे गिरिकंदरे गुहाए व सुण्णहरे। –भ०आ० ६३८

तथा देखिए, बोध पा० ४२, स०सि० ९/१९; ध० १३/५.४.२६/५८/८

३. आगंतुगार देवकुले.....। –भ०आ० २३१, ६३९

साधुचर्या की अपेक्षा गृहस्थ-जीवन ही श्रेष्ठ है।[१] यद्यपि सच्चे वीतरागियों के लिए स्थान का कोई महत्त्व नहीं है[२] तथापि सामान्य वीतरागियों के लिए वैराग्यवर्धक उपयुक्त वसतिका का चयन आवश्यक है। आज के परिवेश में यदि वन में निवास सम्भव न हो तो ग्रामादि के बाह्य-स्थानों का चयन जरूर करना चाहिए, अन्यथा गृहस्थों की संगति से विविध प्रकार के आरम्भ होने लगेंगे तथा आत्मध्यान में बाधा उपस्थित होने लगेगी।

## वसतिका कैसी न हो?

जो वसतिका ध्यान एवं अध्ययन में बाधाकारक हो; मोहोत्पादक हो; कुशील-संसक्त (शराबी, जुआड़ी, चोर, वेश्या, नृत्यशाला आदि से युक्त) हो; स्त्रियों एवं अन्य जन्तुओं आदि की बाधा हो; देवी-देवताओं के मन्दिर हों; राजमार्ग, बगीचा, जलाशय आदि सार्वजनिक स्थानों के समीप हो; तेली, कुम्हार, धोबी, नट आदि के घरों के पास हो।[३] ये सभी स्थान तथा इसी प्रकार के अन्य स्थान ध्यान-साधना के प्रतिकूल हैं। अतएव साधु की वसतिका इनसे युक्त नहीं होनी चाहिए। इसके अलावा साधु की वसतिका पूर्वोक्त उद्गमादि छियालीस दोषों से रहित होनी चाहिए।[४] वसतिका वस्तुतः ध्यान-साधना के अनुकूल एकान्त स्थान में होनी चाहिए।

---

१. इतस्ततश्च त्रस्यन्तो विभावर्यां यथा मृगाः।
वनाद्विशंत्युपग्रामं कलौ कष्टं तपस्विनः।। १९७
वरं गार्हस्थ्यमेवाद्य तपसो भाविजन्मनः।
श्वः स्त्रीकटाक्षलुण्टाकलोप्यवैराग्यसंपदः। –आत्मानु० १९८

२. सव्वासु वट्टमाणा जं देसकालचेट्ठासु।
वरकेवलादि लाहं पत्ता हु सो खवियपावा।।
तो देसकालचेट्ठाणियमोज्झाणस्स णत्थि समयम्मि।
जोगाण समाहाणं जह होइ तहा पयइयव्वं।। –ध० १३/५.४.२६/;१५.२०/६६
देशादिनियमोऽप्येवं प्रायोवृत्तिव्यपाश्रयः।
कृतात्मनां तु सर्वोऽपि देशादिर्ध्यानसिद्धये।। –महापुराण २१/७६

३. भ०आ० २२८, २२९, ४४२, ६३३-६३५, ८३४; मू० आ० ३५७, ९५१; रा० वा० ९/६/१६/५९७/३४; स०सि० ९/१९

४. वसतिका के दोष आहार के दोषों से मिलते-जुलते हैं। उद्गम के २० दोष (४ दोष बढ़ गए हैं), उत्पादन के १६ दोष तथा एषणा के १० दोष।
तथा देखें, भ०आ०, वि० २३०/४४३-४४४



वसतिका में प्रवेश करते समय 'निसीहि' और बाहर जाते समय 'आसिहि' शब्द बोलना चाहिए। ये दोनों शब्द प्राकृत भाषा के हैं, जिनका उद्देश्य बाहर निकलते समय और अन्दर प्रवेश करते समय के संकेत हैं। साधु की साधना में जितना आहार-शुद्धि का महत्त्व है, उतना ही वसतिका का महत्त्व है। ग्रामादि के मध्य-स्थान में रहने से श्रावकों के सरागात्मक कार्यों में प्रवेश हो जाता है। प्रायः श्रावक अपने छोटे-छोटे पारिवारिक दुःखड़ों को साधु के समक्ष प्रस्तुत करने लगता है और साधु उनमें रागयुक्त होकर अथवा यशःकामना के वशीभूत होकर उनको मन्त्र-तन्त्र आदि उपायों को बतलाने लगता है। गृहस्थों के झगड़ों को सुनता है। प्रतिष्ठाचार्य के कार्य पूजा-पाठ आदि विविध आरम्भप्रधान-क्रियाओं को कराने लगता है। इसीलिए आचार्यों ने सदा साधु को विहार करते रहने का विधान किया है, जिससे वह गृहस्थों के सांसारिक प्रपञ्चों में न उलझे । जहाँ बहुत लोगों का आवागमन होता है, वहाँ ध्यान-साधना नहीं हो पाती। अतः योग्य वसतिका का चयन आवश्यक है।

## विहार

एक स्थान पर रहने से उस स्थान से राग बढ़ता है, अतएव साधु को नित्य विहार करते रहने का विधान है। वर्षायोग (चातुर्मास) को छोड़कर साधु अधिक काल तक एक स्थान पर न रहे। इस कलिकाल में एकाकी-विहार का भी निषेध किया गया है। अतः साधु को संघ में रहकर संघ के साथ ही विहार करना चाहिए।

## एक स्थान पर ठहरने की सीमा तथा वर्षावास

मूलाचार में सामान्यरूप से साधु को गाँव में एक रात तथा नगर में पाँच दिन तक ठहरने का विधान है।[१] बोध-पाहुड टीका में इस प्रकार कहा है कि— नगर में पाँच रात्रि और गाँव में विशेष नहीं ठहरना चाहिए।[२] वसन्तादि छहों ऋतुओं में से प्रत्येक ऋतु में एक मासपर्यन्त ही एक स्थान में साधु रहे, अधिक नहीं।[३]

---

१. गामेयरादिवासी णयरे पंचाहवासिणो धीरा।
सवणा फासुविहारी विवित्तएगंतवासी य।। –मू०आ० ७८७

२. वसिते वा ग्रामनगरादौ वा स्थातव्यं, नगरे पञ्चरात्रे स्थातव्यं, ग्रामे विशेषेण न स्थातव्यम्।
–बोध पा०,टी० ४२/१०७/१

३. अनगारधर्मामृत ९/६८-६९

परन्तु वर्षाकाल में चार माह या आषाढ शुक्ला दसमीं से कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा तक एक स्थान में रहे। दुर्भिक्षादि के आने पर तथा अध्ययन आदि प्रयोजनवश इस सीमा में क्रमशः हानि-वृद्धि की अनुमति दी जा सकती है।

वर्षा ऋतु में चारों ओर हरियाली होने, मार्गों के अवरुद्ध होने तथा पृथिवी पर त्रस-स्थावर जीवों की संख्या बढ़ जाने से अहिंसा, संयम आदि का पालन कठिन हो जाता है। अतएव साधु को इस काल में एक स्थान पर रहने का विधान किया गया है। वर्षायोग को दसवाँ पाद्य नामक स्थितिकल्प कहा गया है।[१] अनगारधर्मामृत में वर्षावास के सम्बन्ध में कहा है कि — आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी की रात्रि के प्रथम प्रहर में चैत्यभक्ति आदि करके वर्षायोग ग्रहण करना चाहिए तथा कार्तिक कृष्णा चतुर्दर्शी की रात्रि के पिछले पहर में चैत्य-भक्ति आदि करके वर्षायोग छोड़ना चाहिए।[२] वर्षावास के समय में जो थोड़ा अन्तर है वह उतना महत्त्व का नहीं है, जितना महत्त्व वर्षा होने की परिस्थितियों से है, क्योंकि अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग समयों में वर्षा प्रारम्भ होती है। अतएव प्रयोजनवश इसमें हानि-वृद्धि का विधान है। मूल उद्देश्य है अहिंसा और संयम का प्रतिपालन। मूलाचार आदि प्राचीन मूल ग्रन्थों में वर्षायोग का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है, परन्तु उनकी टीकाओं में है।[३]

## रात्रिविहार-निषेध

सूर्योदय के पूर्व तथा सूर्यास्त के बाद रात्रि में सूक्ष्म और स्थूल जीवों का संचार ज्यादा रहता है तथा अन्धकार होने से वे ठीक से दिखलाई नहीं पड़ते, अतएव संयम-रक्षार्थ रात्रिविहार निषिद्ध है। मल-मूत्रादि विसर्जनार्थ रात्रि में गमन कर सकता है, परन्तु रात्रि-पूर्व ऐसे स्थान का अवलोकन कर लेना चाहिए।[४] आजकल प्रकाश की व्यवस्था हो जाने से दिखलाई तो कुछ ज्यादा पड़ता है परन्तु उतना नहीं जितना सूर्य के प्रकाश में दिखता है तथा रात्रिजन्य स्वाभाविक जीवोत्पत्ति तो बढ़ ही जाती है। इसके अलावा सर्वत्र प्रकाश की व्यवस्था नहीं रहती और साधु न तो स्वयं प्रकाश की व्यवस्था कर सकता है और न करा सकता है।

१. भ॰आ॰, वि॰ ४२१/६१६/१०

२. अनगारधर्मामृत ९/६८-६९

३. वर्षाकालस्य चतुर्षु मासेषु एकत्रैवावस्थानं भ्रमणत्यागः। –भ॰आ॰, वि॰टी॰ ४२१; तथा देखें, मूलाचारवृत्ति १०/१८

४. मूलाचार ३२३



## नदी आदि जलस्थानों में प्रवेश (अपवाद मार्ग)

सामान्यतः जल से भीगे स्थान में नहीं चलना चाहिए। यदि जाना आवश्यक हो तो सूखे स्थान से ही जाना चाहिए, भले ही वह रास्ता लम्बा क्यों न हो। अपवाद-स्थिति होने पर कभी-कभी विहार करते समय जलस्थानों को पार करना पड़ता है। यदि जल घुटनों से अधिक न हो तो पैदल जाया जा सकता है। जल में प्रवेश करने के पूर्व साधु को पैर आदि अवयवों से सचित्त और अचित्त धूलि को दूर करना चाहिए और जल से बाहर आने पर पैरों के सूखने तक जल के समीप किनारे पर ही खड़ा रहना चाहिए। जलस्थान पार करते समय दोनो तटों पर सिद्ध-वन्दना करना चाहिए। दूसरे तट की प्राप्ति होने तक शरीर, आहार आदि का प्रत्याख्यान (परित्याग) करना चाहिए। दूसरे तट पर पहुँचकर दोष को दूर करने के लिए कायोत्सर्ग करना चाहिए।

यह जलप्रवेश अपवाद मार्ग है। आज नदियों पर पुलों का निर्माण हो गया है, अतएव ऐसे जलप्रवेश के मौके प्रायः नहीं आते। अच्छा तो यही होगा कि यदि जाना अति आवश्यक न हो तो नहीं जाना चाहिए या दूसरा रास्ता अपनाना चाहिए। अपवाद मार्गों को अपनाना बिना आचार्य की आज्ञा के ठीक नहीं है।[१]

## गमनपूर्व सावधानी

साधु जब शीतल स्थान से उष्ण स्थान में अथवा उष्ण स्थान से शीतल स्थान में, श्वेत भूमि से रक्त भूमि में अथवा रक्त भूमि से श्वेत भूमि में प्रवेश करे

१. आचार्य शान्तिसागर के साथ घटी दो घटनाएं अपवादमार्ग के संदर्भ में विशेष ध्यान देने योग्य हैं—

(क). एक बार आचार्य धौलपुर स्टेट जा रहे थे। उन्हें नग्न देखकर लट्ठमार आ गए और लाठियों से पीटने लगे। जब राजा को पता चला तो उसने उन लट्ठमारों को पकड़वाया। पश्चात् आचार्य से पूछा, इन्हें क्या सजा देवें। उत्तर में आचार्य ने कहा यदि आप मेरी बात मानें तो इन्हें माफ कर देवें। फलतः उन्हें माफ कर दिया गया और वे लट्ठमार आचार्य के भक्त हो गए।

(ख). एक बार दिल्ली में कलक्टर का आदेश था कि जैन नग्न साधु सड़क पर न निकलें। फलतः श्रावक साधु को चारों ओर से घेरकर ले जाते थे। एक बार आचार्यश्री अकेले पहाड़ी धीरज चले गए। जब वे वापस लौट रहे थे तो चौराहे पर सिपाही ने उन्हें रोंककर शासनादेश सुनाया। सड़क पर नग्नावस्था में जब उन्हें न आगे और न पीछे जाने दिया, तो आचार्य वहीं बीच सड़क पर बैठ गए। स्थिति की नाजुकता को देख कलक्टर ने उन्हें जाने की अनुमति दे दी। जामा मस्जिद के पास उनके चित्र भी लिए गए।

इन दोनों घटनाओं से स्पष्ट है कि कठिन परिस्थितियों में भी अपवाद मार्ग नहीं अपनाना चाहिए। दृढ़ता होने पर सब ठीक हो जाता है।

तो प्रवेश से पूर्व उसे पिच्छी से अपने शरीर का प्रमार्जन कर लेना चाहिए, जिससे विरुद्धयोनि-संक्रमण से क्षुद्र जीवों को बाधा न पहुँचे।[१]

### अनियत विहार

वीतरागी साधु को ममत्वरहित होकर सदा अनियत-विहारी होना चाहिए। अनियत विहार के कई लाभ हैं। जैसे— १. सम्यग्दर्शन की शुद्धि, २. स्थितिकरण, ३. रत्नत्रय की भावना एवं अभ्यास, ४. शास्त्रकौशल, ५. समाधिमरण के योग्य क्षेत्र की मार्गणा, ६. तीर्थङ्करों की जन्मभूमि आदि के दर्शन, ७. परीषह-सहन करने की शक्ति, ८. देश-देशान्तर की भाषाओं का ज्ञान, ९. अनेक मुनियों आदि का संयोग (जिससे आचारादि की विशेष जानकारी होती है), १०. अनेक आचार्यों के उपदेशों का लाभ आदि।[२] अर्हन्त भी अनियतविहारी हैं, परन्तु उनका विहार इच्छारहित होता है।[३]

### विहारयोग्य क्षेत्र एवं मार्ग

साधु को विहार के लिए प्रासुक और सुलभवृत्ति योग्य क्षेत्रों का ध्यान रखना चाहिए। जैसे— जहाँ गमन करने से जीवों को बाधा न हो, जो त्रस और वनस्पति जीवों से रहित हो, जहाँ बहुत पानी या कीचड़ न हो, जहाँ लोगों का निरन्तर गमन होता हो, जहाँ सूर्य का पर्याप्त प्रकाश हो, हल वगैरह से जोता गया हो, आदि।[४]

### एकाकी विहार का निषेध

कलिकाल में गण को छोड़कर एकाकी विहार करने पर कई दोषों की सम्भावनायें हैं। जैसे— दीक्षागुरु की निन्दा, श्रुत का विनाश, जिनशासन में कलंक, मूर्खता, विह्वलता, कुशीलपना, पार्श्वस्थता आदि। जो साधु संघ को

१. भ०आ०, वि० १५०/३४४/९

२. वसधीसु य उवधीसु य गामे णयरे गणे य सण्णिजणे।
सव्वत्थ अपडिबद्धो समासदो अणियदविहारी।। —भ०आ० १५३/३५०
तथा देखिए, भ०आ० १४२-१५०/३२४-३४४

३. देखें, देव-स्वरूप।

४. संजदजणस्स य जहिं फासुविहारो य सुलभवुत्तीय। —भ०आ० १५२/३४९
तथा देखिए, मू०आ० ३०४-३०६



छोड़कर एकाकी विहार करता है, वह पापश्रमण है। अंकुशरहित मतवाले हाथी की तरह वह विवेकहीन 'ढोढाचार्य' कहलाता है क्योंकि वह शिष्यपना छोड़कर जल्दी ही आचार्यपना प्राप्त करना चाहता है।[१] ऐसा मुनि यदि उत्कृष्ट तपस्वी तथा सिंहवृत्ति वाला भी हो तो भी वह मिथ्यात्व को प्राप्त होता है।[२] उत्कृष्ट वीतरागी एकलविहारी साधु की बात अलग है। परन्तु इस कलिकाल में नहीं।[३] अतः संघ के साथ ही विहार करना चाहिए।

विहार का मुख्य उद्देश्य है किसी एक स्थान में राग उत्पन्न न होने देना। विहार करते समय अहिंसा-पालनार्थ ईर्या-समिति का ध्यान रखना जरूरी है। आजकल के युग में एकाकी विहार को अनुपयुक्त कहा गया है, क्योंकि इसमें कई दोष हैं तथा संघ में विहार करने के कई लाभ हैं।

## गुरुवन्दना

जैनधर्म में गुणों की पूजा होती है। अतः जो गुणों में बड़ा होता है वही वन्दनीय है। श्रावकों से श्रमण गुणों में ज्येष्ठ हैं। अतएव श्रमण होने के पूर्व जो माता-पिता पहले वन्दनीय थे अब वह श्रमण उनके द्वारा वन्दनीय हो जाता है। क्षुल्लक से ऐलक, ऐलक से आर्यिका और आर्यिका से साधु श्रेष्ठ है। साधुओं में परस्पर ज्येष्ठता दीक्षाकाल की अधिकता से मानी जाती है। अतः जो दीक्षाकाल की अपेक्षा ज्येष्ठ है वही वन्दनीय है। गुणहीन कथमपि वन्दनीय नहीं है।[४]

### वन्दना का समय

दिन में तीन बार गुरु-वन्दना करनी चाहिए— प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल। अर्थात् प्रातःकालीन क्रियाओं को करने के बाद, माध्याह्निक देववन्दना

१. मूलाचार १५०-१५५, ९६१-९६२

२. उक्किट्ठसीहचरियं बहुपरियम्भो य गरुय भारो य।
जो विरहि सच्छंदं पावं गच्छदि होदि मिच्छत्तं।। —सूत्रपाहुड ९

३. आचारसार २७; मूलाचार (वृत्तिसहित) ४/१४९

४. णो वंदिज्ज अविरदं मादा पिदु गुरु णरिंदं अण्णतित्थं वा।
देशविरदं देवं वा विरदो पासत्थणगं वा।। —मू०आ० ५९४
तथा देखें, प्रवचनसार ३/६८; अनगारधर्मामृत ८/५२
आलोयणाय करणे पडिपुच्छा पूयणे य सज्झाए।
अवराहे य गुरूणं वंदणमेदेसु ठाणेसु।। —मू०आ० ६०१

के बाद तथा सन्ध्याकालीन प्रतिक्रमण के बाद गुरु-वन्दना करनी चाहिए। नैमित्तिक कारणों के उपस्थित होने पर नैमित्तिक-क्रिया के बाद भी वन्दना करना चाहिए।[१] आलोचना, सामायिक, प्रश्न-प्रच्छा, पूजन, स्वाध्याय और अपराध— इन प्रसङ्गों के उपस्थित होने पर गुणज्येष्ठ की वन्दना करनी चाहिए।[२] ऐसी वन्दना विनय तप है। स्वार्थवश या भयवश मिथ्यादृष्टि आदि के प्रति की गई वन्दना विनय तप नहीं है, अपितु अज्ञान है।

### वन्दना के अयोग्य काल

जब वन्दनीय आचार्य आदि एकाग्रचित्त हों, वन्दनकर्ता की ओर पीठ किए हुए हों, प्रमत्तभाव में हों, आहार कर रहे हों, नीहार में हों, मल-मूत्रादि का विसर्जन कर रहे हों, ऐसे अवसरों पर वन्दना नहीं करनी चाहिए।[३]

### वन्दना की विनयमूलकता

गुरु-वन्दना के मूल में विनय है। इस विनय के पाँच भेद हैं[४]— १. लोकानुवृत्तिहेतुक विनय, २. कामहेतुक विनय, ३. अर्थहेतुक विनय, ४. भयहेतुक विनय और ५. मोक्षहेतुक विनय। इन पाँच प्रकार की विनयों में से मोक्षहेतुक विनय ही आश्रयणीय है, अन्य नहीं।

### वन्दना के बत्तीस दोष

संयमी की ही वन्दना करनी चाहिए, असंयमी दीक्षागुरु की वन्दना कभी नहीं करनी चाहिए।[५] गुरुवन्दना करते समय निम्न बत्तीस दोषों को बचाना चाहिए।[६]

१. अन॰ध॰ ८.५४

२. वही। तथा देखिए, मू॰आ॰ ६०१, आचारसार ६५

३. वाखित्तपराहुत्तं तु पमत्तं मा कदाई वंदिज्जो।
आहारं च करंतो णीहारं वा जदि करेदि।। –मू॰आ॰ ५९९,
तथा देखें, अन॰ध॰ ८.५३.

४. अन॰ध॰ ८.४८; मू॰आ॰ ५८२

५. अन॰ध॰ ८.५२

६. अन॰ध॰ ८.९८-१११, –मू॰आ॰ ६०५-६०९



१. **अनादृत** (आदरभावरहित), २. **स्तब्ध** (ज्ञान, जाति आदि के मद से युक्त), ३. **प्रविष्ट** (परमेष्ठियों की अतिनिकटता में), ४. **परिपीड़ित** (अपने हाथों से घुटनों का स्पर्श करना), ५. **दोलायित** (झूले की तरह शरीर को आगे-पीछे करते हुए अथवा फल में सन्देह के साथ), ६. **अंकुशित** (मस्तक पर अंकुश की तरह अंगूठा रखकर), ७. **कच्छपरिङ्गित** (वन्दना करते समय बैठे-बैठे कछुए की तरह सरकना या कटिभाग को नचाना), ८. **मत्स्योद्वर्त** (मछली की तरह एक पार्श्व से उछलना), ९. **मनोदुष्ट** (गुरु आदि के चित्त में खेद पैदा करना), १०. **वेदिकाबद्ध** (दोनों हाथों से दोनों घुटनों को बांधते हुए या दोनों हाथों से दोनों स्तनों को दबाते हुए), ११. **भय** (सात प्रकार का भय), १२. **विभ्यता** (आचार्य-भय), १३. **ऋद्धिगौरव** (संघ के मुनि मेरे भक्त बन जायेंगे, ऐसी भावना), १४. **गौरव** (यशः या आहारादि की इच्छा), १५. **स्तेनित** (गुरु आदि से छिपकर), १६. **प्रतिनीत** (प्रतिकूलवृत्ति रखकर गुरु का आदेश न मानना), १७. **प्रदुष्ट** (वन्दनीय से द्वेष रखना, क्षमा न माँगना), १८. **तर्जित** (अंगुलि से भय दिखाकर या आचार्य से तर्जित होना), १९. **शब्द** (वार्तालाप करते हुए वन्दना), २०. **हेलित** (दूसरों का उपहास करना या आचार्य आदि का वचन से तिरस्कार करना), २१. **त्रिवलित** (मस्तक में त्रिवलि बनाना), २२. **कुंचित** (संकुचित होकर) २३. **दृष्ट** (अन्य दिशा की ओर देखना), २४. **अदृष्ट** (गुरु की आंखों से ओझल होकर या प्रतिलेखना न करना), २५. **संघकरमोचन** (वन्दना को संघ की ज्यादती मानना), २६. **आलब्ध** (उपकरण आदि की प्राप्ति होने पर), २७. **अनालब्ध** (उपकरणप्राप्ति की आशा), २८. **हीन** (कालादि के प्रमाणानुसार न करना), २९. **उत्तरचूलिका** (वन्दना शीघ्र करके उसकी चूलिकारूप आलोचना आदि में अधिक समय लगाना), और ३०. **मूक** (मौनभाव), ३१. **दर्दुर** (खूब जोरों से बोलना, जिससे दूसरों की आवाज दब जाए) और ३२. **सुललित** (गाकर पाठ करना)। इसी प्रकार अन्य दोषों की उद्भावना कर लेना चाहिए।

### वन्दना के पर्यायवाची नाम

कृतिकर्म, चितिकर्म, पूजाकर्म तथा विनयकर्म ये वन्दना के पर्यायवाची (एकार्थवाची) नाम हैं।[१] पापों के विनाशन का उपाय 'कृतिकर्म' है अर्थात् जिस

१. मू॰ आ॰ ५७८ (आचारवृत्तिटीकासहित)

अक्षर-समूह से या जिस परिणाम से या जिस क्रिया से आठों प्रकार के कर्मों को काटा जाता है उसे कृतिकर्म कहते हैं। पुण्यसंचय का कारणभूत 'चितिकर्म' कहलाता है। जिसके द्वारा कर्मों का निराकरण किया जाता है उसे 'विनयकर्म' या 'शुश्रूषा' कहते हैं।

### महत्त्व

वन्दना की गणना साधु के छह आवश्यकों में की जाती है तथा विनय को आभ्यन्तर तप स्वीकार किया गया है। अल्पश्रुत (अल्पज्ञ) भी विनय के द्वारा कर्मों का क्षपण कर देता है। अतएव किसी भी तरह विनय का परित्याग नहीं करना चाहिए।[१]

### कौन किसकी वन्दना करे और किसकी न करे?

गृहस्थ को सभी सच्चे साधुओं की वन्दना करनी चाहिए, जो सच्चे साधु नहीं हैं उनकी वन्दना नहीं करनी चाहिए। गृहस्थ को गुणों में अपने से श्रेष्ठ गृहस्थ की भी वन्दना करनी चाहिए। जैसे नीचे की प्रतिमाधारी अपने से ऊपर की प्रतिमाधारी की वन्दना करे। शेष वन्दना का क्रम लोकाचारपरक है। साधुओं में वन्दना का क्रम निम्न प्रकार है–

सच्चे विरत साधु को अपने से श्रेष्ठ आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर की वन्दना (कृतिकर्म) करनी चाहिए तथा अविरत माता, पिता, लौकिक-गुरु, राजा, अन्यतीर्थिक (पाखण्डी), देशविरतश्रावक, देवगति के देव तथा पार्श्वस्थ आदि शिथिलाचारी मुनियों की वन्दना नहीं करनी चाहिए।[२] लौकिक व्यापारयुक्त, स्वेच्छाचारी, दम्भयुक्त, परनिन्दक, आरम्भ-क्रियाओं आदि से युक्त श्रमण की वन्दना नहीं करनी चाहिए, भले ही वह चिरकाल से दीक्षित क्यों न हो?[३] साधु संघ में ब्रह्मचारी, क्षुल्लक, ऐलक और आर्यिकायें भी रहती हैं। ये क्रमशः गुणक्रम में ज्येष्ठ हैं। अतः ज्येष्ठक्रम से वन्दनीय हैं। जो साधु अथवा ब्रह्मचारी आदि श्रावक हैं वे यदि परस्पर समान कोटि के हैं तो दीक्षाक्रम या व्रतधारण के काल से ज्येष्ठ होने से वन्दनीय होंगे।

१. मू॰आ॰ ५९०-५९१

२. मू॰आ॰ ५९३-५९४, ५९७-५९८; मू॰आ॰, प्रदीप ३.४५०-४५७

३. मू॰आ॰ ९५९-९६०



### वन्दना कैसे करें?

देव, आचार्य आदि की वन्दना करते समय साधु को कम से कम एक हाथ दूर रहना चाहिए, तथा वन्दना के पूर्व पिच्छिका से शरीरादि का परिमार्जन करना चाहिए।[१] आर्यिकाओं को पाँच हाथ की दूरी से आचार्य की, छह हाथ की दूरी से उपाध्याय की, और सात हाथ की दूरी से श्रमण की वन्दना गवासन से बैठकर करनी चाहिए।[२] वन्दना को गुरु गर्वरहित होकर शुद्ध भाव से स्वीकार करे तथा प्रत्युत्तर में आशीर्वाद देवे।[३] आजकल श्रमणसंघ में साधु और आर्यिकाओं के अलावा साधु बनने के पूर्व की भूमिका वाले ऐलक, क्षुल्लक तथा ब्रह्मचारी भी रहते हैं। ऐलक और क्षुल्लक परस्पर 'इच्छामि' कहते हैं। मुनियों को सभी लोग 'नमोऽस्तु' (नमस्कार हो) तथा आर्यिकाओं को 'वंदामि' (वन्दना करता हूँ) कहते हैं। मुनि और आर्यिकायें नमस्कर करने वालों को निम्न प्रकार कहकर आशीर्वाद देते हैं–[४] यदि व्रती हों तो 'समाधिरस्तु' (समाधि की प्राप्ति हो) या 'कर्मक्षयोऽस्तु' (कर्मों का क्षय हो), अव्रती श्रावक-श्राविकायें हों तो 'सद्धर्मवृद्धिरस्तु' (सद्धर्म की वृद्धि हो), 'शुभमस्तु' (शुभ हो) या 'शान्तिरस्तु' (शान्ति हो); यदि अन्य धर्मावलम्बी हों तो 'धर्मलाभोऽस्तु' (धर्मलाभ हो), यदि निम्नकोटि वाले (चाण्डालादि) हों तो 'पापक्षयोऽस्तु' (पाप का विनाश हो)।

## अन्य विषय

### अन्य संघ से समागत साधु के प्रति आचार्य आदि का व्यवहार

किसी दूसरे संघ से साधु के आने पर वात्सल्यभाव से या जिनाज्ञा से उस अभ्यागत साधु का उठकर प्रणामादि के द्वारा स्वागत करना चाहिए। सात कदम आगे बढ़कर उसके रत्नत्रयरूप धर्म की कुशलता पूछनी चाहिए।[५] इसके बाद

१. मू॰आ॰ ६११

२. पंच छ सत्त हत्थे सूरी अज्झावगो य साधू य।
परिहरिऊणज्जाओ गवासणेणेव वंदंति।। –मू॰आ॰ १९५

३. मू॰आ॰ ६१२

४. नमोऽस्त्विति नतिः शास्ता समस्तमतसम्मता।
कर्मक्षयः समाधिस्तेऽस्त्वित्यार्यार्य जने नते।।
धर्मवृद्धिः शुभं शान्तिरस्त्वित्याशीरगारिणी।
पापक्षयोऽस्त्विति प्राज्ञैश्चाण्डालादिषु दीयताम्।। –आचारसार ६६-६७

५. मू॰आ॰ १६०-१६१.

तीन रात्रिपर्यन्त प्रत्येक क्रिया में उसके साथ रहकर उसकी परीक्षा करनी चाहिए।[१] परीक्षोपरान्त साधु यदि योग्य है तो उसे संघ में आश्रय देना चाहिए और यदि अयोग्य है तो आश्रय नहीं देना चाहिए।[२] यदि साधु में दोष हैं तो छेदोपस्थापना आदि करके ही संघ में रखना चाहिए। यदि बिना छेदोपस्थापना आदि किए आचार्य उसे संघ में रख लेते हैं तो आचार्य भी छेद के योग्य हो जाते हैं।[३] अपराध की शुद्धि उसी संघ में होना चाहिए जिसमें वह रहता है, अन्य में नहीं।[४]

## बाईस परीषह-जय[५]

साधु को मोक्षमार्ग की साधना करते समय भूख -प्यास आदि अनेक कष्ट सताते हैं। क्योंकि उनका सम्पूर्ण जीवन तपोमय है। तप की सफलता कष्टों को सहन किए बिना सम्भव नहीं है। शरीरादि के प्रति आसक्ति ही कष्ट का कारण है। अतः कष्टों के उपस्थित होने पर उन कष्टों को खेदखिन्न न होते हुए क्षमा-भाव से सहन करना परीषहजय है। इससे वे मार्गभ्रष्ट होने से बचे रहते हैं तथा कर्मनिर्जरा भी करते हैं। वे बाईस परीषह निम्न प्रकार हैं–

१. क्षुधा (भूख), २. तृषा (प्यास), ३. शीत (ठंढ़क), ४. उष्ण (गर्मी), ५. दंशमसक (मच्छर, डांस मक्खी आदि क्षुद्र जन्तुओं के काटने पर), ६. नाग्न्य (नग्न रहना), ७. अरति (संयम में अरुचि), ८. स्त्री (स्त्री आदि को देखकर कामविकार), ९. चर्या (विहार-सम्बन्धी), १०. निषद्या (श्मशान, शून्यगृहादि वसतिका-सम्बन्धी), ११. शय्या (शयन करने का ऊँचा-नीचा स्थान), १२. आक्रोश (क्रोधयुक्त वचन सुनकर), १३. वध (मारने को उद्यत होने पर), १४. याचना (आहारादि याचनाजन्य), १५. अलाभ (आहारादि की प्राप्ति न होने पर), १६. रोग (बीमारी होने पर), १७. तृणस्पर्श (शुष्क तिनकों के चुभने का कष्ट), १८. मल (पसीना, धूलि आदि जन्य), १९. सत्कार-पुरस्कार (आदर-सत्कार आदि न होने पर), २०. प्रज्ञा (ज्ञानमद), २१. अज्ञान (ज्ञान की प्राप्ति न होने पर) और २२. अदर्शन (तपश्चर्या आदि का फल न दिखने पर श्रद्धान में कमी होना)।

१. मू॰आ॰ १६२-१६४
२. मू॰आ॰ १६७
३. मू॰आ॰ १६८
४. मू॰आ॰ १७६
५. अन॰ध॰ ६.४७६-४९०



इन परीषहों या अन्य उपसर्गों के आने पर साधु को साधना मार्ग से विचलित नहीं होना चाहिए। इन परीषहों को अथवा इनके समान अन्य परेशानियों को शान्त भाव से सहन करना ही परीषहजय है।

## साधु की सामान्य दिनचर्या[१]

| *संभावित समयक्रम* | *करणीय कार्य* |
|---|---|
| प्रातः ६-८ के मध्य | देववन्दना, आचार्यवन्दना, सामायिक एवं मनन |
| प्रातः ८-१० के मध्य | पूर्वाह्णिक स्वाध्याय |
| दिन में १०-२ के मध्य | आहारचर्या (यदि उपवासयुक्त है तो क्रम से आचार्य एवं देववन्दना तथा मनन)। आहार के बाद मंगलगोचर-प्रत्याख्यान तथा सामायिक |
| दोपहर २-४ के मध्य | अपराह्णिक-स्वाध्याय |
| सायं ४-६ के मध्य | दैवसिक-प्रतिक्रमण तथा रात्रि-योग-धारण |
| रात्रि ६-८ के मध्य | आचार्य-देववन्दना, मनन एवं सामायिक |
| रात्रि ८-१० के मध्य | पूर्वरात्रिक-स्वाध्याय |
| रात्रि १०-२ के मध्य | निद्रा |
| रात्रि २-४ के मध्य | वैरात्रिक-स्वाध्याय |
| रात्रि ४-६ के मध्य | रात्रिक-प्रतिक्रमण |

नोट- दैवसिक-क्रियाओं की तरह रात्रिक-क्रियाओं में समय का निश्चित नियम नहीं है। देश-कालानुसार इसमें थोड़ा संशोधन संभावित है। परन्तु करणीय कार्य यथावसर अवश्य करना चाहिए।

## आर्यिका-विचार

अर्यिका उपचार से महाव्रती है, पर्यायगत अयोग्यता के कारण वह साधु नहीं बन पाती। ऐलक और क्षुल्लक तो अभी श्रावकावस्था में ही हैं। अतएव उनमें उपचार से महाव्रतीपना नहीं है। जैसाकि सागारधर्मामृत में कहा है— एक कौपीन (लंगोटी) मात्र में ममत्व के कारण उत्कृष्ट श्रावक (ऐलक) महाव्रती नहीं है जबकि आर्यिका एक साड़ी रखकर भी उसमें ममत्व न होने के कारण उपचार

१. देखें, जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग २, पृ॰ १३७.

से महाव्रती है।[१] उत्तम संहनन वाले को ही मुक्ति मिलती है। स्त्रियों में जघन्य तीन संहनन माने गए हैं जिससे वे निर्विकल्पध्यान नहीं कर पातीं। नग्न दीक्षाव्रत पालन करना स्त्रियों को उचित नहीं है क्योंकि उनके साथ बलात्कार की संभावना अधिक है। इसके अलावा मासिक धर्म, लज्जा, भय आदि भी स्त्रियों में हैं। संभवतः इसीलिए स्त्रियों को नग्न-दीक्षा नहीं बतलाई गई है। शास्त्रसम्मत पर्यायगत अयोग्यता के कारण स्त्री महाव्रती नहीं हो पाती। उसे उपचार से महाव्रती कहा गया है। ऐलक को ऐसी पर्यायगत अयोग्यता नहीं है। अतएव उसे उपचार से भी महाव्रती नहीं कहा है। यही कारण है कि आर्यिका ऐलक के द्वारा वन्दनीय है। पिच्छी और कमण्डलु आर्यिका, ऐलक और क्षुल्लक सभी रखते हैं। आर्यिकाओं का आचारादि प्रायः मुनि के ही समान होता है।[२] जैसे– महाव्रतों का पालन करना, पिच्छी-कमण्डलु और शास्त्र रखना, करपात्र में आहार करना, केशलौञ्च करना आदि। परन्तु कुछ अन्तर भी हैं, जैसे– बैठकर भोजन करना (खड़े-खड़े नहीं); दो सफेद साड़ियों का परिग्रह रखना (एक बार में एक साड़ी पहनना), नग्न न रहना आदि।[३] पूर्णमहाव्रती न होने से दिगम्बर-परम्परा में आर्यिकाओं को तद्भव मोक्षगामी नहीं माना गया है। स्त्री-क्षुल्लिकायें भी होती हैं। सभी आर्यिकायें आचार्य के नेतृत्व में ही अपनी संयमयात्रा का निर्वाह करती हैं। श्रमण संघ में जो स्थान आचार्य का होता है वही स्थान आर्यिकासंघ में गणिनी (महत्तरिका, प्राधान आर्यिका, स्थविरा) का होता है। आर्यिका के आने पर साधु को उनके साथ एकाकी उठना-बैठना नहीं चाहिए।[४]

### उपसंहार

इस तरह साधु-जीवन आत्मशोधन का मार्ग है। इसके लिए उसे सतत जागरूक रहना होता है। प्रत्येक व्यवहार में यत्नाचारपूर्वक मन, वचन और काय की शुद्धि का ध्यान रखना होता है। वीतरागता, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, अहिंसा आदि का सम्यक् निर्वाह हो एतदर्थ मूलगुणों और उत्तरगुणों का पालन करना पड़ता

१. कौपीनेऽपि समूर्च्छत्वान्नार्हत्यार्यो महाव्रतम्।
अपि भाक्तममूर्च्छत्वात् साटकेऽप्यार्यिकार्हति।। –सागार० ८.३७

२. एसो अज्जाणं पि अ सामाचारो जहक्खिओ पुव्वं।
सव्वम्हि अहोरत्तं विभासिदव्वो जधाजोग्गं।। –मूलाचार ४.१८७

३. महाकवि दौलतरामकृत क्रियाकोश,
भ०आ० ७९, सुत्तपाहुड २२,

४. मू०आ० १७७-१८२



है। समय-समय पर विशेष तपश्चर्यादि करनी होती है। दिगम्बर जैन मान्यता में सवस्त्र की पूजा नहीं होती। अतः क्षुल्लकादि को गुरु नहीं कहा गया है।

साधुपद में चारित्र की प्रधानता है, श्रुत की नहीं।[१] क्योंकि चरित्रहीन साधु का बहुश्रुतज्ञपना भी निरर्थक है।[२] चारित्र की शुद्धि के लिए ही पिण्डादि शुद्धियों का विधान किया गया है।[३] ज्ञान का महत्त्व तब है जब व्यक्ति ज्ञान के अनुसार आचरण करे। ज्ञान हो और आचार न हो तो वह ठीक नहीं है। यह भी जानना चाहिए कि सम्यग्ज्ञान के बिना चारित्र सम्यक् नहीं हो सकता है। अतएव सम्यक्चारित्र के लिए सम्यग्ज्ञान-प्राप्ति हेतु सदा प्रयत्नशील रहे। यहाँ इतना विशेष है कि साधु तभी बने जब साधुधर्म का सही रूप में पालन कर सके। अपरिपक्व बुद्धि होने पर अथवा आवेश में दीक्षा न स्वयं लेवे और न दूसरों को देवे। पापश्रमण न बने। पापश्रमण बनने की अपेक्षा पुनः गृहस्थधर्म में आ जाना श्रेष्ठ है। साधुधर्म बहुत पवित्र धर्म है। अतएव जो इसका सही रूप में पालन करता है वह भगवान् कहलाता है; जैसाकि मूलाचार में कहा है–

जो आहार, वचन और हृदय का शोधन करके नित्य ही सम्यक् आचरण करते हैं वे ही साधु हैं। जिनशासन में ऐसे साधु को भगवान् कहा गया है।[४]

**अज्ञान-तिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया।**
**चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।**

**णमो आइरियाणं।**
**णमो उवज्झायाणं।**
**णमो लोएसव्वसाहूणं**

●

१. मू०आ० ८९९-९००

२. मू०आ० ९३५

३. मू०आ० ९०९

४. भिक्कं वक्कं सोधिय जो चरदि णिच्च सो साहू।
एसो सुट्ठिद साहू भणिओ जिणसासणे भयवं।। –मू०आ० १००६

## चतुर्थ अध्याय

# उपसंहार

आज के इस भौतिकवादी युग में जितनी सुख-सुविधाओं का आविष्कार हो रहा है, मनुष्य उतना ही अधिक मानसिक-तनाओं से ग्रसित होता जा रहा है। पहले भी मानसिक तनाव थे और भौतिकता के प्रति आकर्षण था परन्तु उस समय धार्मिक आस्था थी जो आज प्रायः लुप्त होती जा रही है। इन मानसिक तनाओं से तथा सांसारिक दुःखों से मुक्ति पाने के लिए मनुष्य विविध माध्यमों को अपनाते रहे हैं और आज भी अपना रहे हैं। इन्हें हम निम्न चार वर्गों में विभक्त कर सकते हैं–

**प्रथम वर्ग**– सुरापान, सुन्दरी-सेवन आदि विविध प्रकार के साधनों को अपनाकर कैंसर, एड्स आदि विविध शारीरिक रोगों को आमन्त्रित कर रहा है। **द्वितीय वर्ग**– स्वार्थों की पूर्ति हेतु या तो कपटाचार करता है या फिर किसी तरह जीवन-नौका को चलाता है। **तृतीय वर्ग**– संन्यासमार्ग को अपनाकर सुख की तलाश कर रहा है। यह वर्ग दो उपभागों में विभक्त है– पापश्रमण और सच्चे श्रमण। **चतुर्थ वर्ग**– मध्यस्थमार्ग अपनाकर संन्यासी तो नहीं बनता परन्तु गृहस्थ जीवन में सदाचारपरायण होते हुए या तो निष्पक्ष समाजसेवा आदि करता है या फिर अपने में ही लीन रहता है। इन चार वर्गों में से तृतीय वर्ग के सच्चेश्रमण तथा चतुर्थ वर्ग वाले श्रावक (सदाचारी गृहस्थ) ऐसे हैं जो सही दिशा में आगे बढ़ रहे हैं। श्रावकों के आदर्श गुरु हैं- सच्चे साधु (मुनि, तपस्वी)।

संन्यासमार्गी साधु वर्ग दो उपभागों में विभक्त है– सच्चे-साधु और खोटे-साधु (पापश्रमण, सदोषसाधु)। खोटे साधुओं के भी दो वर्ग हैं–

१. पहले वे जिनलिङ्गी साधु हैं, जो देखने में तो वीतरागी हैं और सच्चे देवों की उपासना भी करते हैं परन्तु अन्दर से मलिन हैं तथा सच्चे देवों की पूजा आदि के माध्यम से स्वार्थसिद्धि में लीन हैं। यशः की कामना अथवा स्वार्थसिद्धिहेतु ये सच्चे शास्त्रों के नाम पर मिथ्या उपदेश करते हैं। मन्त्र-तन्त्र, ज्योतिष आदि विविध क्रियाओं के माध्यम से लोगों को भ्रमित करते हैं। वस्तुतः ये साधु नहीं हैं अपितु साधुवेष में गृहस्थों पर अपना प्रभाव जमाते हैं। इनमें कुछ मठाधीश भी बन जाते हैं।



२. दूसरे खोटे-साधु वे हैं जो जिनलिङ्ग-बाह्य हैं और गृहस्थों की तरह रहते हुए भी अन्य गृहस्थों के आश्रित बने हुए हैं। इन दोनों प्रकार के खोटे-साधुओं से सदाचारी सद्गृहस्थ (श्रावक) श्रेष्ठ हैं। ये खोटे-साधु न तो ठीक से गृहस्थाश्रम का पालन करते हैं और न संन्यासाश्रम का। इनके लिए आत्मध्यान तथा आध्यात्मिक चेतना का सुख तो कोशों दूर है।

सच्चे-साधु भी दो प्रकार के हैं– १. सूक्ष्म रागयुक्त व्यवहाराश्रित सराग-साधु (छठे गुणस्थान से लेकर दसवें गुणस्थान-वर्ती साधु) तथा २. निश्चयनयाश्रित पूर्णवीतरागी साधु (ग्यारहवें गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थानवर्ती साधु)। वस्तुतः तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती साधुओं को अर्हन्त (जीवन्मुक्त) देव कहा गया है। ग्यारहवाँ और बारहवाँ गुणस्थान छद्मस्थ वीतरागियों का है। अतः ग्यारहवें गुणस्थान से पूर्व की विविध-अवस्थायें व्यवहाराश्रित साधु की हैं। पूर्ण अहिंसा, सत्य, आचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पाँच महाव्रतों के धारण करने से ही सच्चा साधु होता है। ये सच्चे साधु मन्त्र-तन्त्र प्रयोग तथा सांसारिक विविधक्रियाकलापों से बहुत दूर रहते हैं। यदि साधु बनने के बाद भी इनका प्रयोग करते हैं तो कैसे वीतरागी साधु? यदि इन प्रयोगों के द्वारा जनकल्याण की भावना है तो साधुवेष की अपेक्षा श्रावकवेष धारण करके समाजसेवा आदि पुण्य कार्यों को करना चाहिए। क्योंकि आगम में इनका प्रयोग साधु को वर्जित बतलाया है। सच भी है 'वीतरागी को ऐसे सांसारिक पुण्यकार्यों से क्या प्रयोजन'? जैसे श्रावक होकर पण्डितवर्ग ज्ञान देता है उसी प्रकार एक ऐसा श्रावक-पण्डित या भट्टारक हो जो मंत्रादि प्रयोगों को सिद्ध करके धर्मप्रभावनार्थ या देशसेवार्थ कार्य करे, स्वार्थपूर्ति हेतु नहीं। इससे साधु के स्वरूप में विकृति नहीं होगी।

पाँच महाव्रतों से अतिरिक्त अन्य तेईस मूलगुण, अनेक उत्तरगुण, पिच्छी कमण्डलु-धारण, विविध व्रत-नियम पालन आदि अहिंसादि पाँच महाव्रतों के संरक्षणार्थ हैं। आत्मचिन्तन में लीन होकर अपने शरीर तक से विरक्त हो जाना सच्चे साधु का लक्षण है। चूंकि जीवन्मुक्ति के पूर्व अथवा ग्यारहवें गुणस्थान के पूर्व सदाकाल आत्मचिन्तन में लीन (ध्यानमुद्रा) होना सम्भव नहीं है। अतः ध्यानेतर काल में कुछ अन्य क्रियायें भी करनी पड़ती हैं। शरीर-माध्यम से ही ध्यान-साधना हो सकती है। अतः भोजनादि में प्रवृत्ति करना अनिवार्य हो जाता है। भोजनादि में प्रवृत्ति करते समय आहार-विहार सम्बन्धी नियमों का परिपालन

करना पड़ता है। भोजनादि के न मिलने पर क्षुधादि कष्टों को सहन करना पड़ता है; यदि क्षुधादि कष्टों (परीषहों) के उपस्थित होने पर चञ्चल हुए तो साधु कैसे? हर्ष और विषाद दोनों-अवस्थाओं में समभाव वाला ही सच्चा साधु है, अन्य नहीं। ऐसा समदर्शी साधु ही हमारा आराध्य है, गुरु है। क्योंकि उसने शारीरिक, मानसिक और वाचिक सभी प्रकार के कष्टों पर विजय प्राप्त कर ली है। कष्टों का कारण है राग और जहाँ राग है वहीं द्वेष है। राग-द्वेष के होने पर क्रोधादि चारों कषायें और नौ नोकषायें होती हैं। अतः साधु को वीतरागी कहा है, क्योंकि जहाँ राग नहीं वहाँ द्वेषादि तथा कष्ट भी नहीं होते हैं। साधु ध्यान-साधना के द्वारा ही गुणस्थान की सीढ़ियों को चढ़ता है। ध्यान टूटते ही नीचे छठे गुणस्थान तक आ जाता है क्योंकि छठे गुणस्थान से ऊपर के सभी गुणस्थान ध्यान से सम्बन्धित हैं। ध्यान के चार भेद गिनाए गए हैं– आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यान। इनमें आर्त (इष्टवियोग-अनिष्टसंयोग-जन्य पीड़ा में एकाग्रता) और रौद्र (क्रोधादि परिणामों से जन्य एकाग्रता) ध्यान सर्वथा वर्जित हैं, शेष दो ध्यान ही करणीय हैं। शुक्ल ध्यान सर्वोत्कृष्ट है। ध्यान के लिए योग्य वसतिका का भी चयन आवश्यक है, अन्यथा ध्यान संभव नहीं है।

साधु-समुदाय शासन-व्यवस्था की दृष्टि से आचार्य (संघपति, दीक्षाचार्य, प्रधानसाधु), उपाध्याय (शास्त्रवेत्ता, अध्यापक) और सामान्य साधु इन तीन वर्गों में विभक्त है। कार्यानुसार अल्पकालिक बालाचार्य, निर्यापकाचार्य आदि अन्य व्यवस्थायें भी हैं। इस साधु-समुदाय में दीक्षाकाल की दृष्टि से ज्येष्ठता होती है और जो दीक्षा की अपेक्षा ज्येष्ठ होता है वही पूज्य होता है। यदि आचार्य किसी अपराधवश किसी साधु की दीक्षा का छेद करता है तो जितनी दीक्षा-अवधि कम की जाती है तदनुसार उसकी वरिष्ठता उतनी कम हो जाती है। ऐसी स्थिति में कभी-कभी उसे ऐसे साधु को भी नमस्कार करना पड़ता है जो दीक्षा-छेद के पूर्व उसे नमस्कार करता था। अचार्य सर्वोपरि होता है। इस तरह साधुवर्ग में चारित्र धारण-काल से ज्येष्ठता मानी गई है। यह एक व्यवहार-व्यवस्था है। निश्चय से तो केवली ही जान सकता है, अन्य नहीं। अतएव निश्चयनय को लेकर व्यवहार-व्यवस्था को तोड़ना उचित नहीं है। साधुओं में भी परस्पर गुरु-शिष्य भाव है परन्तु गृहस्थों के लिए सभी सच्चे साधु गुरु हैं, पूज्य हैं।

महिलाओं का अलग वर्ग है जिसे 'आर्यिका' कहा जाता है। इनमें जो प्रधान होती है उसे गणिनी (महत्तरिका, प्रधान-आर्यिका) कहते हैं। गणिनी आर्यिकासंघ में आचार्यवत् कार्य करती है परन्तु प्रधानता आचार्य की ही रहती है। ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिका आदि यद्यपि साधुसंघ में रहते हैं परन्तु हैं वे श्रावक ही। अतः उन्हें गुरु नहीं कहा गया है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उन्हें नमस्कार नहीं करना चाहिए क्योंकि श्रावकों में भी परस्पर प्रतिमाओं के क्रम से श्रेष्ठता है। आर्यिका को ऐलक से अवश्य श्रेष्ठ बतलाया गया है क्योंकि वह उपचार से महाव्रती है और ऐलक अणुव्रती।



जब समदर्शी सच्चा साधु साधना के द्वारा समस्त कर्मों का क्षय कर देता है तो वह 'देव' बन जाता है। जीवन्मुक्त (तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती अर्हन्त) और विदेहमुक्त (सिद्ध) ये दोनों गुरु भी हैं और सच्चे देवों की कोटि में भी आते हैं। देवजाति के संसारी जीवों से पृथक् करने के लिए इन्हें 'देवाधिदेव' या भगवान् कहा जाता है। सर्वज्ञ और सर्वशक्तिसम्पन्न होकर भी ये सृष्टि आदि कार्यों से विरत रहते हैं, क्योंकि वीतरागी हैं, उन्हें कोई इच्छा नहीं है। वीतरागी होने से निन्दा-स्तुति का यद्यपि इन पर प्रभाव नहीं पड़ता, तथापि स्तुतिकारक और निन्दक अपने-अपने परिणामों के अनुसार शुभाशुभ फल अवश्य प्राप्त करते हैं। वस्तुतः प्रत्येक आत्मा परमात्मा (भगवान्) है। जब तक कर्म का आवरण है तब तक संसार है, शरीर है और कष्ट हैं। आवरण हटते ही शुद्ध आत्मज्योति दिव्यरूप से प्रकट हो जाती है। यही आत्मा का शुद्धरूप ही देवत्व है। इसके अतिरिक्त देवजाति के देवों में जो देवत्व है वह केवल भौतिक समृद्धि मात्र है। रागादि का सद्भाव होने से देवजाति के देव पूज्य नहीं हैं। कुछ देव जाति के देव सम्यग्दृष्टि भी हैं। सभी देवों की समृद्धि नित्य नहीं है। अर्हन्त और सिद्ध देवों की अनन्तचतुष्टयरूप समृद्धि अविनश्वर है तथा उनमें रागादि का सर्वथा अभाव होने से पूज्यता भी है। ऐसे अर्हन्त और सिद्ध देव ही सच्चे देव हैं।

यहाँ एक प्रश्न विचारणीय है कि क्या इन्द्र के आदेश से अर्हन्त की सेविका पद्मावती आदि देवियाँ और सेवक शासनदेवों की अर्हन्त के समान आराधना करनी चाहिए? उत्तर स्पष्ट है कि जैनशासन में मिथ्यादृष्टि कथमपि पूज्य नहीं हैं। शासन देवी-देवता भवनत्रिक के मिथ्यादृष्टी देव हैं और इन्द्र के आदेश से सेवक की तरह कार्य करते हैं। मिथ्यादृष्टि सेवक देवों से मोक्ष सुख की कामना करना आकाश-कुसुम को पाने की इच्छा की तरह निष्फल है। मिथ्यादृष्टि की आराधना से मिथ्यात्व ही बढ़ सकता है, सम्यक्त्व नहीं। उन्होंने अर्हन्तों की सेवा की है। अतएव उनके प्रति वात्सल्य भाव तो रखा जा सकता है, अर्हन्तवत् पूजा

नहीं। भ्रमवश कुछ ऐसे लोग हैं जो देव मन्दिरों में अर्हन्तदेव की उपेक्षा करके इन्हीं शासन देवी-देवताओं की पूजा बड़े भक्तिभाव से करते हैं। अज्ञानवश एवं भयवश कुछ ऐसे भी लोग हैं जो इन कुदेवों (मिथ्यादृष्टि देवों) के साथ अदेवों (कल्पित देवों = जिनका नाम जैन देवों में नहीं आता) की भी पूजा करते हैं। यह भी मिथ्यात्व है। वस्तुतः अध्यात्म-प्राप्ति हेतु अर्हन्त, सिद्ध और मुनि की पूजा की जाती है, सांसारिक समृद्धि के लिए नहीं। सांसारिक समृद्धि कृषि आदि सांसारिक व्यवसायों से करना चाहिए। अर्हन्त की पूजा से भी परिणामों की निर्मलता होने पर सांसारिक-समृद्धि अपने आप प्राप्त होती है। उनसे याचना करके निदानबंध करना उचित नहीं है। हमें यदि मांगना ही है तो अर्हन्त देवों से मांगें, अधम मिथ्यादृष्टि देवों से नहीं। महाकवि कालिदास ने ठीक ही कहा है– 'फल प्राप्त होने पर भी अधम से याचना नहीं करनी चाहिए। श्रेष्ठ (देवाधिदेव) से याचना करना ठीक है, भले ही वह निष्फल हो' (याञ्चा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा)। फिर अर्हन्त की आराधना कभी निष्फल नहीं होती।

ऐसे सच्चे देवों में रागादि का सर्वथा अभाव होने से उनके उपदेशादि कैसे होंगे? ऐसी आशंका होने पर कहा गया है कि अर्हन्त तीर्थङ्करों की दिव्यध्वनि सम्पूर्ण शरीर से खिरती है। वस्तुतः वे हमारी तरह बोलते नहीं हैं फिर भी उपस्थित जीव-समुदाय उन्हें देखकर अपनी-अपनी भाषा में कर्मों के क्षयोपशम के अनुसार समझ लेते हैं। सर्वाधिक समझने की शक्ति गणधरों में होती है। गणधर उस वाणी को समझकर शब्दरूप में हमें देते हैं। वह शब्दरूप वाणी ही सच्चे शास्त्र हैं। गणधरों ने सर्वप्रथम जिन ग्रन्थों की रचना की थी वे थे आचाराङ्ग आदि अङ्गप्रविष्ट ग्रन्थ। पश्चात् परवर्ती आचार्यों ने अन्य अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया। कालदोष से दिगम्बर मान्यतानुसार आचाराङ्ग आदि अंग-ग्रन्थ लुप्त हो गए। परन्तु बारहवें दृष्टिवाद नामक अङ्ग-ग्रन्थ के पूर्वों के एकांश-ज्ञाताओं द्वारा कषायपाहुड और षट्खण्डागम ग्रन्थ लिखे गए। इन्हीं के आधार पर कालान्तर में अन्य ग्रन्थ लिखे गए। इसी परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार आदि ग्रन्थों को लिखकर एक अभिनव क्रान्ति पैदा की जिससे आगे की परम्परा कुन्दकुन्द-आम्नाय के नाम से विख्यात हुई। पश्चात् उमास्वामी, समन्तभद्र आदि आचार्यों ने प्रामाणिक ग्रन्थों का प्रणयन किया।

आज प्रश्न इस बात का है कि आचार्यों के शास्त्रों के अर्थ को सही कैसे समझा जाए? इसके लिए आचार्यों ने निश्चय-व्यवहार आदि विविध नयदृष्टियाँ



प्रदान की हैं। साथ ही यह भी बतलाया कि निरपेक्ष एक नय की दृष्टि से किया गया कथन एकान्तवाद होगा, मिथ्यावाद होगा। अतः शास्त्रों का अर्थ करते समय स्याद्वाद-सिद्धान्तानुसार ही अर्थ करना चाहिए। इसके अतिरिक्त उत्सर्ग और अपवाद मार्गों का भी ध्यान रखना चाहिए। कहाँ, किस सन्दर्भ में क्या कहा गया है? इसका ध्यान रखना बहुत आवश्यक है अन्यथा भ्रम पैदा होंगे। कभी-कभी हम अपने अज्ञान या दुराग्रह के वशीभूत होकर सच्चे शास्त्रों की गलत व्याख्या कर देते हैं जो सर्वथा-अनुचित है। अतः अर्थ करते समय मूल सिद्धान्त नहीं भूलना चाहिए। सच्चे शास्त्र वही हैं जो स्याद्वाद-सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में वीतरागता का प्रतिपादन करते हैं। ऐसे सच्चे शास्त्र ही पूज्य हैं। इनसे भिन्न लौकिक अर्थों का व्याख्यान करनेवाले शास्त्र यहाँ अभिप्रेत नहीं हैं।

इस समस्त चिन्तन से स्पष्ट है कि आचार्य, उपाध्याय और साधु में आचारगत तात्त्विक भेद नहीं, अपितु औपाधिक भेद हैं। ये तीनों ही श्रमण गुरु शब्द के वाच्य हैं। ये ही सच्चे गुरु हैं। आचार्य, उपाध्याय और साधु ध्यान के द्वारा जब गुणस्थान क्रम से अर्हत् अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं तो उन्हें सच्चे देव कहने लगते हैं। इस अवस्था में वे परमौदारिकशरीरधारी हो जाते हैं जिससे उन्हें भूख, प्यास आदि नहीं लगती। शस्त्रादि का उनके शरीर पर प्रभाव नहीं पड़ता। आयुःकर्म के पूर्ण होने पर वे अशरीरी सिद्ध होकर लोकाग्र में स्थित हो जाते हैं। इस तरह सशरीरी अर्हन्त और अशरीरी सिद्ध दोनों ही सच्चे देव (भगवान्) हैं। इन्हें उपचार से सच्चे गुरु भी कहा गया है क्योंकि हमारे आदर्श ये ही हैं। जिनसे हमें इनकी वाणी का साक्षात् उपदेश मिलता है वे आचार्य, उपाध्याय और साधु हमारे सच्चे गुरु हैं। सच्चे देव और सच्चे गुरु की वाणी तथा उनकी वाणी का लिखित रूप ही सच्चे शास्त्र हैं। ऐसे सच्चे देव, शास्त्र और गुरु को मेरा शत शत वन्दन।

●

# प्रथम परिशिष्ट : प्रसिद्ध दिगम्बर जैन शास्त्रकार आचार्य और शास्त्र

## श्रेणी-क्रम से शास्त्रकारों और उनके शास्त्रों का परिचय

### (क) श्रुतधराचार्य

| *शास्त्रकार-आचार्य* | *शास्त्र* | *समय[1], परिचयादि* |
|---|---|---|
| **गुणधर** | कसायपाहुड (पेज्जदोसपाहुड) | वि.पू. प्रथम शताब्दी। अर्हद्वलि (वी॰नि॰सं॰ ५६५) या वि॰ सं॰ ९५ से पूर्ववर्ती। कसायपाहुड और षट्खण्डागम के अनेक तथ्यों में मतभेद है जिसे तन्त्रान्तर कहा है। |
| **धरसेन** | (षट्खण्डागम प्रवचनकर्त्ता) | ई. सन् ७३, नंदिसंघ की प्राकृत-पट्टावली के अनुसार वी॰नि॰ सं॰ ६१४ के बाद। जोणिपाहुड (योनिप्राभृत) आपकी रचना है, ऐसा उल्लेख मिलता है। |
| **पुष्पदन्त** | छक्खण्डागम (षट्खण्डागम के जीवट्ठाण नामक प्रथम खण्ड की सत्प्ररूपणा पर्यन्त) | ई. सन् १-२ शताब्दी। डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन ई. सन् ५०-८०। नंदिसंघ की प्राकृतपट्टावली के अनुसार वी॰ नि॰ सं॰ ६३३ के बाद। कार्यकाल ३० वर्ष। ये भूतबलि से ज्येष्ठ थे। भूतबलि के साथ आपने धरसेनाचार्य से षट्खण्डागम सीखा। षट्खण्डागम लिखने का प्रारम्भ किया परन्तु अल्पायु होने से पूरा न कर सके। बाद में गुरु-भाई भूतबलि ने उसे पूरा किया। |
| **भूतबलि** | षट्खण्डागम | पुष्पदंताचार्य सम-समयवर्ती। ई. सन् ८७ के आसपास। पुष्पदंत से छोटे थे। डा. ज्योतिप्रसाद जैन ई. सन् ६६-९०। डा. हीरालाल जैन वी॰ नि॰ सं॰ ६१४-६८३। इन्होंने पुष्पदंत की रचना को पूर्ण किया। |
| **आर्यमंक्षु और नागहस्ती** | (श्रुतज्ञ और उपदेष्टा) | वि॰नि॰सं॰ ७वीं शताब्दी। श्वेताम्बर परम्परा में भी ये दोनों आचार्य मान्य हैं। वहाँ आर्यमंक्षु को |

१. वि. सं. से ई. सन् ५६ वर्ष पीछे है और वी. नि. सं. से ५२६ वर्ष पीछे है। आर्थात् ई. सन् में ५६ वर्ष जोड़ने पर वि॰ सं॰ और ५२६ वर्ष जोड़ने पर वी. नि. सं. आता है।



| *शास्त्रकार-आचार्य* | *शास्त्र* | *समय, परिचयादि* |
|---|---|---|
| | | वी॰नि॰सं॰ ५वीं शताब्दी का तथा नागहस्ती को वी॰नि॰सं॰ ७वीं शताब्दी का माना है। दोनों परम्पराओं में आर्यमंक्षु ज्येष्ठ हैं। दोनों क्षमाश्रमण तथा महावाचक पदों से विभूषित थे। जय-धवला में इन्हें आरातीय-परम्पराका ज्ञाता कहा है। चूर्णिसूत्रकार यतिवृषभ आर्यमंक्षु के शिष्य थे और नागहस्ती के अन्तेवासी (सहपाठी)। इन्द्रनंदि के श्रुतावतार में इन्हें कसायपाहुड-कर्ता गुणधराचार्य का शिष्य कहा है। मंगु और मंक्षु दोनों एकार्थक हैं। श्वे॰ परम्परा में मंगु नाम आया है। |
| **कुन्दकुन्द (पद्मनन्दि)** | प्रवचनसार, समयसार पंचास्तिकाय, नियमसार, द्वादशानुप्रेक्षा, अष्टपाहुड, रयणसार, दशभक्ति | ई. सन् प्रथम शताब्दी। नाथूराम प्रेमी वी. नि. सं. ६८३ के बाद। डा. देवेन्द्र कुमार गुणधराचार्य के आसपास। इनके समय के सम्बन्ध में कई मत हैं। आप युग-संस्थापक तथा श्रुतधराचार्यों में प्रमुख हैं। इनके ग्रन्थों के दो प्रमुख टीकाकार हैं— अमृतचन्द्राचार्य और जयसेनाचार्य। इनके जीवन की दो प्रमुख घटनायें हैं— विदेह क्षेत्र की यात्रा और गिरनार पर्वत पर श्वे. के साथ हुए वादविवाद में विजय। इनकी सभी रचनायें शौरसेनी प्राकृत में हैं। |
| **वज्रयश** | — | यतिवृषभ (ई. सन् १७६ के आसपास) से पूर्ववर्ती। तिलोयपण्णत्ति में उल्लेख आया है कि ये अंतिम प्रज्ञाश्रमण तथा ऋद्धिधारक थे। |
| **चिरन्तनाचार्य** | — | वप्पदेव (संभवतः ५-६ शताब्दी) से पूर्ववर्ती। जयधवलाटीकामेंउल्लेख है। येव्याख्यानाचार्यथे। |
| **यतिवृषभ** | कसायपाहुड-चूर्णिसूत्र, तिलोयपण्णत्ति | ई. सन् १७६ के आसपास। कुन्दकुन्द अवश्य आपसे प्राचीन रहे हैं। इन्हें भूतबलि का सम-समयवर्ती या कुछ उत्तरवर्ती भी कहा गया है। धवला और जयधवला में भूतबलि और यतिवृषभ के मतभेद की चर्चा आई है। तिलोयपण्णत्ति के वर्तमान संस्करण में कुछ ऐसी भी गाथायें हैं जो कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों |

| *शास्त्रकार-आचार्य* | *शास्त्र* | *समय, परिचयादि* |
|---|---|---|
| | | में हैं। कुछ प्रक्षिप्त गाथायें भी हैं जो दूसरे के द्वारा लिखी गई हैं। पं॰ हीरालाल के अनुसार कम्मपयडिचूर्णि भी आपकी रचना रही है। |
| **उच्चारणाचार्य (व्याख्यानाचार्य)** | —— | ई. सन् दूसरी-तीसरी शताब्दी। कसायपाहुड की जयधवला टीका में अनेक स्थानों पर उल्लेख है। श्रुतपरम्परा में उच्चारण की शुद्धता पर विशेष जोर देने के कारण उच्चारणाचार्यों की मौखिक परम्परा थी। इनका कथन पर्यायार्थिक नय की मुख्यतः से और चूर्णिकार यतिवृषभ का कथन द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से है। |
| **वप्पदेव** | व्याख्याप्रज्ञप्ति | यतिवृषभ, आर्यमंक्षु और नागहस्ती के समकालीन। धवलाकार वीरसेन स्वामी के समक्ष वप्पदेव की व्याख्याप्रज्ञप्ति थी। अतः आप वीरसेन स्वामी (डा. हीरालाल के मत से ई. सन् ८१६) के पूर्ववर्ती हैं। आपने शुभनंदी और रविनंदि से आगम ग्रन्थों का अध्ययन किया था। इन्होंने महाबन्ध को छोड़कर शेष पांच खण्डों पर व्याख्याप्रज्ञप्ति नामक टीका लिखी। छठे खण्ड पर संक्षिप्त विवृत्ति लिखी। पश्चात् कषायप्राभृत पर भी टीका लिखी। 'धवला से यह भी ज्ञात होता है कि व्याख्याप्रज्ञप्ति प्राकृतभाषारूप पुरातन व्याख्या है, वप्पदेव रचित नहीं।' ऐसा डा. नेमिचन्द्र शास्त्री का मत है। |
| **वट्टकेर** | मूलाचार | कुन्दकुन्दाचार्य के समकालीन। मुनि- आचार का सुन्दर और विस्तृत वर्णन इन्होंने मूलाचार में किया है। ये कुन्दकुन्दाचार्य से भिन्न हैं या अभिन्न, इसमें मतभेद है। श्री जुगलकिशोर मुख्तार तथा डा. ज्योतिप्रसाद जैन अभिन्न मानते हैं। कहीं कहीं मूलाचार को कुन्दकुन्दकृत भी लिखा है। डा. हीरालाल जैन, पं. नाथूराम प्रेमी आदि ने इन्हें कुन्दकुन्द से भिन्न माना है। इसकी कई गाथायें |



| *शास्त्रकार-आचार्य* | *शास्त्र* | *समय, परिचयादि* |
|---|---|---|
| | | श्वे. के दशवैकालिक सूत्र से मिलती-जुलती हैं। इसे संग्रहग्रन्थ भी कहा गया है। वसुनंदि (११वीं शताब्दी) की इस पर संस्कृत टीका है। |
| **उमास्वामी (गृद्धपिच्छाचार्य)** | तत्त्वार्थसूत्र | ई. सन् द्वितीय शताब्दी। कई इन्हें प्रथम शताब्दी का मानते हैं। संस्कृत के प्रथम जैनसूत्रकार हैं। श्वे. और दिग. दोनों परम्पराओं में मान्य हैं। श्वे. परम्परा में इन्हें उमास्वाति कहते हैं तथा स्वोपज्ञभाष्य सहित तत्त्वार्थसूत्र का रचयिता मानते हैं। कुछ आचार्य तत्त्वार्थसूत्र का कर्ता कुन्दकुन्द को मानते हैं। तत्त्वार्थसूत्र पर सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक आदि संस्कृत टीकायें हैं। जैन-परम्परा में तत्त्वार्थसूत्र का वही महत्त्व है जो इस्लाम में कुरान का, ईसाई धर्म में बाईबिल का और हिन्दू धर्म में भगवद्गीता का है। इसमें द्रव्यानुयोग, करणानुयोग और चरणानुयोग का सार समाहित है। |
| **शिवार्य (शिवकोटि)** | भगवती-आराधना | ई. सन् २-३ शताब्दी। ये यापनीय संघ के आचार्य हैं। यापनीय संघ श्वे. के सूत्र ग्रन्थों को मानता था। अतः इनकी बहुत सी गाथायें श्वे. से मिलती हैं। भगवती-आराधना मुनि-आचार विषयक महत्त्वपूर्ण रचना है। इस पर अपराजित सूरि (७-८ शता॰) की विजयोदया संस्कृत-टीका है। शिवनंदि और शिवकोटि भी इनके नाम संभव हैं। |
| **स्वामि कुमार (कार्तिकेय)** | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | वि. सं. २-३ शताब्दी। आपने कुमारावस्था में ही संभवतः मुनि-दीक्षा ले ली थी। ये उमास्वमी के सम-समयवर्ती या कुछ उत्तरवर्ती रहे हैं। बारह अनुप्रेक्षाओं के नाम और क्रम उमास्वामी की तरह हैं, मूलाचार, भगवती-आराधना तथा कुन्दकुन्द कृत द्वादशानुप्रेक्षा की तरह नहीं। |

| शास्त्रकार-आचार्य | शास्त्र | समय, परिचयादि |
|---|---|---|
| **(ख) सारस्वताचार्य** | | |
| **समन्तभद्र** | आप्तमीमांसा (देवागम स्तोत्र), बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र, स्तुतिविद्या (जिनशतक), युक्त्यनुशासन, रत्नकरण्ड-श्रावकाचार, जीवसिद्धि, प्राकृतव्याकरण, आदि। | ई. सन् द्वितीय शताब्दी। नाथूराम प्रेमी छठी शता०। इनकी समता श्रुतधराचार्यों से की जा सकती है। प्रकाण्ड दार्शनिक और गम्भीर चिन्तक थे। संस्कृत के प्रथम जैन कवि। आपको भष्मक-व्याधि हो गई थी जो चन्द्रप्रभु की स्तुति से शान्त हुई थी तथा एक प्रभावक घटना भी घटी थी। अन्य रचनायें तत्त्वानुशासन, प्रमाणपदार्थ, कर्मप्राभृतटीका, गन्धहस्तिमहाभाष्य। |
| **विमलसूरि** | पउमचरियं | ई० सन् चौथी शताब्दी। कुछ विद्वान् दूसरी शताब्दी भी मानते हैं। ये यापनीय संघ के थे। प्राकृत भाषा में चरित-काव्य के प्रथम जैन कवि हैं। हरिवंशचरियं भी आपकी रचना है ऐसा कुछ विद्वान् मानते हैं। |
| **सिद्धसेन (सिद्धसेन दिवाकर)** | सन्मतितर्क (सन्मतिसूत्र या सन्मति-प्रकरण), कल्याणमन्दिरस्तोत्र | वि. सं. ६२५ के आसपास। समय के सम्बन्ध में मतभेद (१ से ८ वीं शता०)। श्वे. और दिग० दोनों को मान्य हैं। ये सेनगण के आचार्य थे। समन्तभद्र से परवर्ती और पूज्यपाद से पूर्ववर्ती या समसामयिक रहे हैं। सिद्धसेन नाम के कई विद्वान् हुए हैं। श्वे. में 'दिवाकर' विशेषण मिलता है। पं० जुगलकिशोर मुख्तार ने कुछ द्वात्रिंशिकाओं एवं न्यायावतार (श्वे. में मान्य) के कर्त्ता सिद्धसेन को सन्मतितर्क के कर्त्ता से भिन्न माना है। ये प्रसिद्ध कवि और दार्शनिक (वादिगजकेसरी) थे। सन्मतिसूत्र प्राकृत भाषा में पद्यबद्ध जैन न्याय का अनूठा ग्रन्थ है। इसमें तीन काण्ड हैं। |
| **देवनन्दि पूज्यपाद** | सर्वार्थसिद्धि (तत्त्वार्थवृत्ति), समाधितन्त्र (समाधिशतक), | ई. सन् छठी शताब्दी। कवि, वैयाकरण और दार्शनिक थे। अन्य रचनायें हैं— इष्टोपदेश, दशभक्ति, जन्माभिषेक, सिद्धि-प्रियस्तोत्र, जैनेन्द्रव्याकरण। |



| शास्त्रकार-आचार्य | शास्त्र | समय, परिचयादि |
|---|---|---|
| **पात्रकेसरी (पात्रस्वामी)** | त्रिलक्षणकदर्थन (अप्राप्त), पात्रकेसरीस्तोत्र (जिनेन्द्रगुण-संस्तुति) | वि. सं. छठी शताब्दी उत्तरार्ध। आप कवि और दार्शनिक थे। इनका जन्म उच्च ब्राह्मण कुल में हुआ था। ये पार्श्वनाथ तीर्थङ्कर के चैत्यालय में प्रतिदिन जाया करते थे। |
| **जोइन्दु (योगीन्दु)** | परमात्मप्रकाश (अपभ्रंश), योगसार (अपभ्रंश), तत्त्वार्थटीका (सं०), सुभाषिततन्त्र (सं०) आदि | ई. सन् छठी का उत्तरार्ध। पूज्यपाद के बाद। अध्यात्मवेत्ता आचार्य थे। अन्य रचनायें-- नौकारश्रावकाचार (अपभ्रंश), अध्यात्म-संदोह (संस्कृत), दोहापाहुड (अपभ्रंश), अमृताशीती (सं०), निजात्माष्टक (प्राकृत)। |
| **ऋषिपुत्र** | ऋषिपुत्रनिमित्तशास्त्र | ई. सन् ४-७ शताब्दी। प्रसिद्ध ज्योतिषवेत्ता थे। |
| **मानतुङ्ग** | भक्तामरस्तोत्र | ई० सन् ७वीं शताब्दी। श्वे. और दिग० दोनों में मान्य। भक्तामरस्तोत्र इतना प्रसिद्ध हुआ कि इसके एक-एक चरण को लेकर समस्यापूर्तिरूप कई स्तोत्र-काव्य लिखे गए। |
| **रविषेण** | पद्मचरित (पद्मपुराण) | वि०सं० ८४० से पूर्व। पौराणिक चरित-काव्यकार। |
| **जटासिंहनन्दि** | वराङ्गचरित | सातवीं शताब्दी का उत्तरार्ध। पुराण-महाकाव्यकार। दाक्षिणात्य कवि। संभवतः अन्य रचनायें भी थीं। |
| **अकलङ्कदेव** | लघीयस्त्रय (स्वोपज्ञ वृत्तिसहित), न्यायविनिश्चय (स्वोपज्ञवृत्तिसहित), सिद्धिविनिश्चय (सवृत्ति), तत्त्वार्थवार्तिक = राजवार्तिक (सभाष्य) अष्टशती (देवागम-विवृत्ति), प्रमाणसंग्रह (सवृत्ति) | सातवीं शती उत्तरार्ध। समय-सम्बन्धी तीन मत— १. डा. पाठक का मत (ई. ७७८), २. जुगलकिशोर आदि (ई. ६४३) और ३. पं० महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य (ई० ८वीं शती)। ये जैन न्याय के प्रकाण्ड विद्वान् थे। शैली तार्किक एवं गूढ है परन्तु मार्मिक व्यङ्ग्य के प्रसङ्गों में सरस शैली है। बौद्धदर्शन में जो स्थान धर्मकीर्ति का है वही स्थान जैनदर्शन में अकलंक देव का है। इनकी ब्रह्मचर्यव्रत लेने की घटना अपूर्व थी। |

| *शास्त्रकार-आचार्य* | *शास्त्र* | *समय, परिचयादि* |
|---|---|---|
| **एलाचार्य** | —— | ई॰ ८-९वीं शताब्दी। वीरसेन (धवला, जयधवला टीकाकार) के विद्यागुरु थे। वीरसेन के समकालीन या कुछ पूर्ववर्ती। सिद्धान्तशास्त्र मर्मज्ञ थे। |
| **वीरसेन** | धवला (षट्खण्डागम टीका), जयधवला (कषायपाहुड टीका। बीस हजार श्लोकप्रमाण मात्र) | ई॰ सन् ८१६। एलाचार्य के शिष्य जिनसेन प्रथम ने अपने हरिवंशपुराण में इन्हें 'कवि-चक्रवर्ती' लिखा है। गणित, न्याय, ज्योतिष, व्याकरण आदि के ज्ञाता थे। भट्टारकपदवी-धारक तथा केवली के समान समस्त विद्याओं के पारगामी। टीकायें प्राकृत-संस्कृत-मिश्रित भाषा में हैं। जयधवला २० हजार श्लोक प्रमाण तक ही लिख पाए पश्चात् मृत्यु होने पर जिनसेन द्वितीय ने उसे पूरा किया। |
| **जिनसेन द्वितीय** | पार्श्वाभ्युदय (समस्यापूर्तिकाव्य), आदिपुराण (४२ पर्व तक), जयधवला टीका (बीस हजार श्लोक प्रमाण के बाद) | ई. सन् नौवीं शती। इन्होंने वीरसेन की जयधवलाटीका को पूरा किया और इनके आदिपुराण को (इनकी मृत्यु हो जाने पर) इनके शिष्य गुणभद्र ने शेष ५ पर्व और लिखकर पूरा किया। सम्पूर्ण रचना महापुराण के नाम से प्रसिद्ध है। प्रबुद्धाचार्य गुणभद्र (ई. १० शताब्दी) की रचना को उत्तरपुराण कहते हैं। |
| **विद्यानन्द** | आप्तपरीक्षा (सवृत्ति), प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशासन परीक्षा, विद्यानन्द महोदय, श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (सभाष्य), | ई. सन् नौवीं शताब्दी। दक्षिण भारत के कर्नाटक प्रान्त के निवासी थे। इनके सभी ग्रन्थ दर्शनशास्त्र के प्रामाणिक तथा प्रौढ़ ग्रन्थ हैं। अंतिम तीन रचनायें क्रमशः निम्न ग्रन्थों की टीकायें हैं— तत्त्वार्थसूत्र, आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासनस्तोत्र। राजाबलीकथे में जिस विद्यानन्दि का जीवनवृत्त आया है वे इनसे भिन्न परम्परापोषकाचार्य हैं। प्रौढ़ पाण्डित्य था। किंवदन्तियों के अनुसार इनका |



| *शास्त्रकार-आचार्य* | *शास्त्र* | *समय, परिचयादि* |
|---|---|---|
| | अष्टसहस्री (देवागमालङ्कार), युक्त्यनुशासनालङ्कार | जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनकी अष्टसहस्री जैनन्याय में अद्भुत ग्रन्थ है। इसे कष्टसहस्री भी कहा है। |
| **देवसेन** | दर्शनसार, भावसंग्रह, आराधनासार, तत्त्वसार, लघुनयचक्र, आलापपद्धति | वि. सं. ९९०-१०१२। भावसंग्रह इनकी रचना है या नहीं, मतभेद है। आलापपद्धति संस्कृतगद्यमयी रचना है, शेष रचनायें प्राकृत में हैं। दर्शन-सार में इन्हें देवसेनगणि, तत्त्वसार में मुनिनाथ देवसेन तथा आराधनासार में देवसेन लिखा है। |
| **अमितगति (प्रथम)** | योगसारप्राभृत | वि. सं. १०००। ये नेमिषेण के गुरु और देवसेन के शिष्य थे। |
| **अमितगति (द्वितीय)** | सुभाषितरत्नसंदोह, धर्मपरीक्षा, उपासकाचार, (अमितगति-श्रावकाचार), पञ्चसंग्रह (संस्कृत), प्राकृतपंचसंग्रह, आदि | वि. सं. १२ वीं शताब्दी। माथुरसंघ के आचार्य। ये माधवसेन के शिष्य तथा नेमिषेण के प्रशिष्य हैं। धर्मपरीक्षा संस्कृत में व्यङ्ग्यप्रधान उत्कृष्ट रचना है। अन्य रचनायें— लघु एवं बृहत् सामायिक पाठ, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति, सार्द्धद्वयद्वीप-प्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति ,व्याख्याप्रज्ञप्ति, आराधना और भावना-द्वात्रिंशतिका। |
| **अमृतचन्द्रसूरि** | पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (श्रावकाचार), तत्त्वार्थसार, समयसारकलश, समयसारटीका (आत्मख्याति), प्रवचनसारटीका (तत्त्वप्रदीपिका) पंचास्तिकायटीका (तत्त्वदीपिका) | ई. सन् १०वीं शती। पट्टावली में इनके पट्टारोहण का समय वि. सं. ९६२ दिया है। पं. आशाधर जी (वि. सं. १३००) ने आपका उल्लेख किया है। कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों का रहस्य इनकी व्याख्या के विना जानना कठिन था। ये मूल संघ के आचार्य थे और आध्यात्मिक विद्वान् थे। टीकाकारों में आपका वही स्थान है जो कालिदास कवि के टीकाकार मल्लिनाथ का है। विद्वत्ता अद्भुत थी। |

| *शास्त्रकार-आचार्य* | *शास्त्र* | *समय, परिचयादि* |
|---|---|---|
| **नेमिचन्द्र (सिद्धान्तचक्रवर्ती)** | गोम्मटसार (जीव-काण्ड और कर्मकाण्ड), त्रिलोकसार, लब्धिसार, क्षपणासार | ई॰ सन् १०वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध। अभयनंदि, वीरनंदि और इन्द्रनंदि गुरु थे। श्रवणबेलगोला में विंध्यगिरि पर भगवान् गोम्मटेश्वर (चामुण्डराय का देवता) बाहुबलि की प्रतिमा के प्रतिष्ठापक चामुण्डराय (गंगवंशी राजा राचमल्ल के प्रधानमंत्री एवं सेनापति) आपके शिष्य थे। देशीयगण के आचार्य थे। धवला और जयधवला का सार क्रमशः गोम्मटसार और लब्धिसार में संग्रहीत है। सिद्धान्तचक्रवर्ती अपकी उपाधि थी। |
| **नरेन्द्रसेन** | सिद्धान्तसारसंग्रह | वि.सं. १२वीं शताब्दी। ये धर्मरत्नाकर के कर्ता जयसेन के वंशज थे। सिद्धान्तसारसंग्रह अमृतचन्द्र के तत्त्वार्थसार की शैली में लिखा गया ग्रन्थ है। |
| **नेमिचन्द्र मुनि (सिद्धान्तिदेव)** | लघुद्रव्यसंग्रह, बृहद्द्रव्यसंग्रह (द्रव्यसंग्रह या लघुपंचास्तिकाय) | वि.सं. ११२५ के आसपास। बृहद्द्रव्यसंग्रह के संस्कृत टीकाकार हैं ब्रह्मदेव। डा. दरबारीलाल कोठिया ने निम्न चार नेमिचन्द्र गिनाए हैं— १. नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती (गोम्मटसारकर्ता), २. वसुनंदि सिद्धान्तिदेव के उपासकाध्ययन में उल्लिखित नेमिचन्द्र, ३. गोम्मटसार पर जीव-तत्त्वप्रदीपिका संस्कृत टीका के कर्त्ता और ४. द्रव्यसंग्रहकार। |
| **सिंहनंदि आदि**[1] | | |
| **(ग) प्रबुद्धाचार्य** | | |
| **जिनसेन प्रथम** | हरिवंश पुराण | ई. सन् ७८३। अपूर्वकाव्यप्रतिभा। |
| **गुणभद्र** | आदिपुराण (४३वें पर्व के चौथे पद्य के बाद समाप्ति पर्यन्त), उत्तरपुराण, आत्मानुशासन, जिनदत्तचरितकाव्य | ई. सन ९वीं शता. का अंतिम चरण। अपने गुरु जिनसेन द्वितीय के अधूरे आदिपुराण को पूरा किया। संभवतः ये सेनसंघ के आचार्य थे। दक्षिण में कर्नाटक या महाराष्ट्र इनकी साधनाभूमि थी। सरलता और सरसता इनकी रचनाओं में समाहित है। |

१. **अन्य चर्चित सारस्वताचार्य— सिंहनन्दि** (ई. सन् २ री शता.। गंगराज वंश की स्थापना में सहायक। राजनीतिज्ञ और आगमवेत्ता), **सुमतिदेव** (सन्मतिटीकाकार, ८वीं. शता. के आसपास,), **कुमारनंदि** (वादन्यायकार, संभवतः वि. सं. ८वीं शता., विद्यानंद से पूर्ववर्ती), **श्रीदत्त** (जल्पनिर्णयकार, वि. सं. ४-५ शता., विद्यानंद के अनुसार ६३ वादियों के विजेता), **कुमारसेन गुरु** (काष्ठासंघ संस्थापक, विं. सं. ८वीं शता.), **वज्रसूरि** (द्राविड़संघसंस्थापक, संभवतः देवनंदि पूज्यपाद के शिष्य, छठी शता. के लगभग), **यशोभद्र** (तार्किक, संभवतः वि. सं. छठी शता. के पूर्व), **शान्त या शान्तिषेण** (वक्रोक्तिपूर्ण



| *शास्त्रकार-आचार्य* | *शास्त्र* | *समय, परिचयादि* |
|---|---|---|
| **शाकटायन पाल्यकीर्ति** | स्त्रीमुक्ति, केवलिभुक्ति | ई. सन् १०२५ के पूर्व। अन्य रचना— अमोघवृत्ति सहित शाकटायन शब्दानुशासन (व्याकरण)। |
| **वादीभसिंह** | छत्रचूडामणि, गद्यचिन्तामणि | ९वीं शता॰। जैन संस्कृत गद्य साहित्यकार। 'स्याद्वादसिद्धि' इनकी रचना है या अजितसेन की है, इसमें विवाद है |
| **महावीराचार्य** | गणितसारसंग्रह, | ई. ९वीं शता॰। जैनगणितज्ञ। इनकी एक रचना ज्योतिषपटल (अप्राप्त) भी है। |
| **बृहद् अनन्तवीर्य** | सिद्धिविनिश्चयटीका, प्रमाणसंग्रहभाष्य (प्रमाणसंग्रहालङ्कार) | ई. सन् ९७५-१०२५। रविभद्र के शिष्य थे। ये न्यायशास्त्र के पारंगत विद्वान् थे। इनके नाम वाले कई विद्वान् हुए हैं। |
| **माणिक्यनन्दि** | परीक्षामुख | ई. सन् ११वीं शता॰ प्रथम चरण। नंदीसंघ के प्रमुख आचार्य। आद्य जैनन्याय सूत्रकार। परीक्षामुख पर कई टीकायें हैं— प्रभाचन्द्रकृत-प्रमेयकमलमर्तण्ड, लघु अनन्तवीर्यकृत प्रमेयरत्नमाला, भट्टारक चारुकीर्तिकृत प्रमेय-रत्नमालालङ्कार, शान्तिवर्णिकृत प्रमेयकण्ठिका। |
| **प्रभाचन्द्र** | प्रमेयकमलमार्तण्ड (परीक्षामुख टीका), | ई. सन् ११वीं शता॰। समय के विषय में मदभेद है। कई प्रभाचन्द्र हुए हैं। अन्य रचनायें हैं– |

रचना करने में समर्थ, संभवतः ७वीं शता.), **विशेषवादि** (जिनसेन के हरिवंशपुराण और पार्श्वनाथचरित में उल्लेख), **श्रीपाल** (वि. सं. ९वीं शता., वीरसेन स्वामी के शिष्य), **काणभिक्षु** (जिनसेन ने कथाग्रन्थकार के रूप में उल्लेख किया है), **कनकनंदि सिद्धान्तचक्रवर्ती** (विस्तरसत्त्व-त्रिभंगीकार, ई. सन् १० वीं शता.)।

| *शास्त्रकार-आचार्य* | *शास्त्र* | *समय, परिचयादि* |
|---|---|---|
| | न्यायकुमुदचन्द्र (लघीयस्त्रय टीका), तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण (सर्वार्थसिद्धि-टीका), क्रियाकलापटीका | शाकटायन-न्यास (शाकटायन व्याकरण टीका), शब्दाम्भोजभास्कर (जैनेन्द्र व्याकरण टीका), प्रवचनसार-सरोजभास्कर (प्रवचनसार टीका), गद्यकथाकोष, आत्मानुशासनटीका, महापुराण टिप्पण, रत्नकरण्डश्रावकाचारटीका, समाधितन्त्र टीका। जुगल किशोर मुख्तार अंतिम दो को अन्य प्रभाचन्द्रकृत मानते हैं। |
| **लघु अनन्तवीर्य** | प्रमेयरत्नमाला (परीक्षामुख टीका) | वि. सं. १२ वीं शता॰ पूर्वार्द्ध। जैनन्याय ग्रन्थकार। |
| **वीरनन्दि** | चन्द्रप्रभचरित-महाकाव्य | ई. सन् ९५०-९९९। मनोभावों का सजीव चित्रण करने में सिद्धहस्त महाकवि। |
| **महासेनाचार्य** | प्रद्युम्नचरित-महाकाव्य | ई. सन् १० वीं शता॰ उत्तरार्ध। लाटवर्गट संघ के आचार्य। यह काष्ठासंघ की शाखा है। |
| **हरिषेण** | बृहत् कथाकोश | ई. ९३१। इस नाम के कई आचार्य हैं। |
| **सोमदेव सरि** | नीतिवाक्यामृत, यशस्तिलकचम्पू, अध्यात्मतरंगिणी (योगमार्ग) | ई. ९५९। तार्किक, रजनीतिज्ञ, धर्माचार्य तथा साहित्यकार। इनका यशस्तिलकचम्पू मध्यकालीन भारतीय संस्कृति के इतिहास का अपूर्व स्रोत है। |
| **वादिराज** | पार्श्वनाथचरित, यशोधरचरित, एकीभावस्तोत्र, न्यायविनिश्चय-विवरण, प्रमाणनिर्णय | ई. सन् ११वीं शता॰। इनका कुष्ठ रोग एकीभाव स्तोत्र से दूर हो गया था, ऐसा उल्लेख मिलता है। द्रविड़ (द्रमिल) संघ के आचार्य थे। दार्शनिक, वादिविजेता और महाकवि थे। इनकी षट्तर्कषण्मुख आदि उपाधियाँ थीं। |
| **पद्मनंदि प्रथम** | जंबूद्दीवपण्णत्ति, धम्मरसायण, प्राकृतपंचसंग्रहवृत्ति | ई. सन्. १०वीं शता॰। इस नाम के कई आचार्यों के उल्लेख हैं। आचार्य कुन्दकुन्द का भी एक नाम पद्मनंदि मिलता है। ये सिद्धान्त-शास्त्रज्ञ थे। |
| **पद्मनंदि द्वितीय** | पद्मनंदि पंचविंशतिका | ई. सन् ११वीं शता॰। लोकप्रिय रचना रही है जिसमें २६ विषय हैं। |



| *शास्त्रकार-आचार्य* | *शास्त्र* | *समय, परिचयादि* |
|---|---|---|
| **जयसेन प्रथम** | धर्मरत्नाकर | वि.सं. १०५५। लाडवागड संघ के थे। |
| **जयसेन द्वितीय** | समयसार टीका, प्रवचनसार टीका, पंचास्तिकाय टीका | ई. ११-१२ शता॰। इन टीकाओं का नाम है 'तात्पर्यवृत्ति'। शैली और अर्थ की दृष्टि से ये टीकायें अमृतचन्द्राचार्य से भिन्न हैं। |
| **पद्मप्रभ मलधारिदेव** | नियमसार-तात्पर्यवृत्तिटीका, पार्श्वनाथस्तोत्र | ई. १२ वीं शता॰। पं. नाथूराम प्रेमी इन्हें पंचविंशति के कर्ता पद्मनंदि से अभिन्न मानते हैं। |
| **शुभचन्द्र** | ज्ञानार्णव (योगप्रदीप) | वि. सं. ११ वीं शता॰। इस नाम के कई आचार्य हैं। |
| **अनन्तकीर्ति** | सर्वज्ञसिद्धि (बृहत् और लघु) | ई. ९वीं शता॰ उत्तरार्ध। कई आचार्य हैं। |
| **मल्लिषेण** | नागकुमारकाव्य, महापुराण, भैरवपद्मावतीकल्प | ई. ११वीं शता॰। कवि और मन्त्रवादी। उभय-भाषाकविचक्रवर्ती थे। अन्य रचनायें— सरस्वतीमन्त्रकल्प, ज्वालिनीकल्प, कामचाण्डालीकल्प। |
| **इन्द्रनन्दि प्रथम** | ज्वालमालिनीकल्प | ई. १० वीं शता॰ पूर्वार्द्ध। मन्त्रशास्त्रज्ञ। इस नाम के कई आचार्य हैं। |
| **जिनचन्द्र** | सिद्धान्तसार | ई. ११-१२ शता॰। सिद्धान्तसार पर ज्ञानभूषण का भाष्य है। |
| **श्रीधर** | गणितसार (त्रिशतिका), ज्योतिर्ज्ञानविधि, बीजगणित | ई. ८-९ शता॰ संभावित है। कई विद्वान् हैं। ज्योतिष और गणित के विद्वान्। अन्य रचना है— जातकतिलक (कन्नड में)। |
| **दुर्गदेव** | रिष्टसमुच्चय, अर्घकाण्ड, मरणकण्डिका, मन्त्रमहोदधि | ई. सन् ११वीं शता॰। श्वेताम्बर और दिगम्बर साहित्य में इस नाम के तीन आचार्यों का उल्लेख है। आगम और तर्कशास्त्र के भी ज्ञाता थे। |
| **मुनि पद्मकीर्ति** | पासणाहचरिउ | शक सं. ९९९। जिनसेन गुरु थे। |
| **इन्द्रनन्दि द्वितीय** | छेदपिण्ड | ई. ११वीं शता॰। कई आचार्य हैं। एक श्रुतावतार के कर्ता इन्द्रनंदि हैं। |

| शास्त्रकार-आचार्य | शास्त्र | समय, परिचयादि |
|---|---|---|
| **वसुनंदि प्रथम** | प्रतिष्ठासारसंग्रह, उपासकाचार (श्रावकाचार), मूलाचार-आचारवृत्ति | ई. ११-१२वीं शता०। कई आचार्य हैं। आप्तमीमांसावृत्ति और जिनशतक-टीका अन्य वसुनंदि की हैं। उपसकाचार (उपासकाध्ययन) में कई नए तथ्यों का समावेश है। |
| **रामसेन** | तत्त्वानुशासन | ई. सन् ११वीं उत्तरार्ध। सेनगण के आचार्य। कई रामसेन हुए हैं। |
| **गणधरकीर्ति** | अध्यात्मतरंगिणी | वि. सं. ११८९। गुजरातप्रदेशवासी। |
| **भट्टवोसरि** | आयज्ञान (स्वोपज्ञ संस्कृत आयश्री टीका सहित) | ई. ११वीं शता० उत्तरार्ध। ज्योतिष और निमित्त शास्त्र के वेत्ता। ये दामनन्दि के शिष्य थे। |
| **उग्रादित्य** | कल्याणकारक | वि. सं. ७४९ के बाद। आयुर्वेदवेत्ता। |
| **भावसेन त्रैविद्य** | प्रमाप्रमेय, सिद्धान्तसार, न्यायदीपिका (धर्मभूषण से भिन्न), विश्वतत्त्व-प्रकाश | ई. १२वीं शता० मध्य। मूलसंघ सेनगण। दो अन्य आचार्य थे। अन्य ग्रन्थ-- शाकटायन व्याकरणटीका, कातन्त्ररूपमाला, न्यायसूर्यावलि, भुक्तिमुक्तिविचार, सप्तपदार्थी टीका। |
| **नयसेन** | धर्मामृत, कन्नड-व्याकरण | ई. १२वीं शता० पूर्वार्ध। धर्मामृत में कथा के माध्यम से धर्म का महत्त्व है। |
| **वीरनंदि (सिद्धान्तचक्रवर्ती)** | आचारसार | ई. १२वीं शता० मध्य। ये मेघचन्द्र- शिष्य थे। मूलसंघ पुस्तकगच्छ और देशीयगण के थे। चन्द्रप्रभचरितकर्ता वीरनंदि (अभयनंदिशिष्य) से ये भिन्न हैं। |
| **श्रुतमुनि** | परमागमसार, आस्त्रवत्रिभङ्गी, भावत्रिभंगी | ई. १३ शता० उत्तरार्ध। डा. ज्योति-भूषण ने सत्रह श्रुतमुनि गिनाए हैं। गोम्मटसार का प्रभाव है। |
| **हस्तिमल्ल** | विक्रान्तकौरव, मैथिलीकल्याण, अञ्जनापवनञ्जय, सुभद्रानाटिका, आदिपुराण, आदि | ई. ११६१-११८१। प्रसिद्ध दिगम्बर जैन संस्कृत नाट्यकार। ये प्रारम्भ में वत्स्यगोत्रीय दक्षिणभारतीय ब्राह्मण थे। अन्य रचनायें भी हैं। ये सेनसंघ के आचार्य रहे हैं। |



| शास्त्रकार-आचार्य | शास्त्र | समय, परिचयादि |
|---|---|---|
| **माघनंदि** | शास्त्रसारसमुच्चय | ई. १२वीं शता. उत्तरार्ध। इस नाम के तेरह आचार्य हैं। |
| **वज्रनन्दि** | नवस्तोत्र | पूज्यपाद से परवर्ती। मल्लिषेण प्रशस्ति में उल्लेख है। |
| **महासेन द्वितीय** | सुलोचना कथा | ई. ८-९ शता.। जिनसेन प्रथम के हरिवंश पुराण में उल्लेख है। |
| **सुमतिदेव** | सुमतिसप्तक | ७-८ शता.। मल्लिषेणप्रशस्ति में उल्लेख है। |
| **पद्मसिंह मुनि** | ज्ञानसार | वि. सं. १०८६। प्राकृत भाषाविज्ञ। |
| **माधवचन्द्र त्रैविध** | त्रिलोकसार संस्कृत टीका | ई. सन् ९७५-१०००। नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती के शिष्य। इस नाम के १०-११ विद्वानों के उल्लेख हैं। |
| **नयनन्दि** | सुदंसणचरिउ, सयलविहि विहाण-कव्व | वि. सं. ११-१२ शताब्दी। |

**(घ) परम्परा-पोषकाचार्य[१]**

| | | |
|---|---|---|
| **बृहद् प्रभाचन्द्र** | तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वामी से भिन्न) | समय अज्ञात। 'अर्हद्-प्रवचन' भी प्रभाचन्द्र के नाम से मिलता है। ये प्रमेयकमलमार्त्तण्डकार से भिन्न हैं। |

१. **अन्य परम्परा-पोषकाचार्य—**

**भट्टारक पद्मनंदि** (श्रावकाचार-सारोद्धार, वर्धमानचरित आदि), **भट्टारकसकलकीर्ति** (शान्तिनाथ चरित, समाधिमरणोत्साह-दीपक आदि ३७ ग्रन्थ), **भट्टारक भुवनकीर्ति** (जीवन्धररास आदि), **ब्रह्मजिनदास** (जम्बूस्वामिचरित आदि ६५ ग्रन्थ),**सोमकीर्ति** (प्रद्युम्नचरित आदि ८ ग्रन्थ), **ज्ञानभूषण** (तत्त्वज्ञानतरंगिणी आदि १६ ग्रन्थ), **भट्टारक विजयकीर्ति** (धर्मप्रचारक ), **भट्टारक विद्यानंदि** (सुदर्शन चरित), **भट्टारक मल्लिभूषण** (धर्मप्रचारक), **वीरचन्द्र** (वीरविलासफाग आदि), **सुमतकीर्ति** (कर्मकाण्डटीका, पंचसंग्रह टीका आदि), **भट्टारक जिनचन्द्र** (सिद्धान्तसार, जिनचतुर्विंशतिस्तोत्र), **भट्टारक प्रभाचन्द्र** (ग्रन्थजीर्णोद्धारक), **भट्टारक जिनसेन द्वितीय** (नेमिनाथरास), **ब्रह्मजीवन्धर** (गुणस्थानवेलि आदि १२ ग्रन्थ), **यशःकीर्ति** (पाण्डवपुराण आदि), **शुभकीर्ति** (शान्तिनाथ चरित), **गुणचन्द्र** (अनन्तनाथ पूजा आदि), **मलयकीर्ति**, **श्रुतकीर्ति** (हरिवंशपुराण आदि), **धर्मकीर्ति भट्टारक** (पद्मपुराण, हरिवंश पुराण), **रत्नकीर्ति या**

| *शास्त्रकार-आचार्य* | *शास्त्र* | *समय, परिचयादि* |
|---|---|---|
| **पार्श्वदेव** | संगीत समयसार | १२ वीं शताब्दि अन्तिम चरण। |
| **भास्करनंदि** | तत्त्वार्थसूत्र वृत्ति (सुखबोधाटीका), ध्यानस्तव | वि. सं. १६ वीं शता.। नवीन सिद्धान्तों की स्थापना की है। |
| **ब्रह्मदेव** | बृहद्द्रव्यसंग्रहटीका, परमार्थ-प्रकाशटीका | ई. १२वीं शता.। अन्य रचनायें— तत्त्वदीपक, प्रतिष्ठातिलक, ज्ञानदीपक, विवाहपटल, कथाकोष। |
| **रविचन्द्र** | आराधनासार-समुच्चय | ई. १२-१३वीं शता.। इस नाम के अन्य आचार्य भी हैं। |
| **अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती** | कर्मप्रकृति | ई. १३ वीं शता.। मुख्तार साहब इन्हें गोम्मटसार जीवकाण्ड की मन्दप्रबोधिनी टीका का कर्ता भी मानते हैं। |
| **भट्टारक अभिनव धर्मभूषण यति** | न्यायदीपिका | ई. सन् १३५८-१४१८। इस नाम के कई आचार्य हुए हैं। |
| **भट्टारक वर्द्धमान (प्रथम)** | वरांगचरित | ई. सन् १४ वीं शताब्दी। |
| **भट्टारक शुभचन्द्र** | चन्द्रप्रभचरित, पाण्डवपुराण करकण्डुचरित, आदि | वि. सं. १५३५-१६२०। ज्ञान के सागर थे। इनके ३१ ग्रन्थ हैं। संस्कृत और हिन्दी दोनों में रचनायें हैं। |
| **श्रुतसागर सूरि** | यशस्तिलक चन्द्रिका, तत्त्वार्थवृत्ति (श्रुत-सागरीटीका) | वि. सं. १६ वीं शता.। ये न केवल परम्परापोषक थे अपितु मौलिक सिद्धान्तों के संस्थापक भी थे। इनके ३८ ग्रन्थ हैं। |
| **ब्रह्मनेमिदत्त** | आराधनाकथाकोश, नेमिनिर्वाण काव्य | वि. १६ वीं शताब्दी। इनके १२ ग्रन्थ हैं। |

---

**रत्ननंदि** (भद्रबाहुचरित), **श्रीभूषण** (शान्तिनाथपुराण आदि), **भट्टारक चन्द्रकीर्ति** (पार्श्वनाथपुराण आदि १० ग्रन्थ), **ब्रह्म ज्ञानसागर** (तेरह ग्रन्थ), **सोमसेन** (रामपुराण, शब्दरत्नप्रदीप), **छत्रसेन** (द्रौपदीहरण आदि), **वर्द्धमान द्वितीय** (दशभक्त्यादिमहाशास्त्र), **गंगादास** (श्रुतस्कन्ध कथा आदि), **देवेन्द्रकीर्ति** (दो पूजा ग्रन्थ), **जिनसागर** (आदित्यव्रत कथा आदि), **सुरेन्द्रभूषण** (ऋषिपंचमी कथा), **महेन्द्रसेन** (सीताहरण, बारहमासा), **सुरेन्द्रकीर्ति** (एकीभाव, कल्याणमन्दिर आदि), **ललितकीर्ति भट्टारक** (महापुराण की टीका आदि)।



| *शास्त्रकार-आचार्य* | *शास्त्र* | *समय, परिचयादि* |
|---|---|---|
| **टीकाकार नेमिचन्द्र** | जीवतत्त्वप्रदीपिका (गोम्मटसारटीका) | ई. सन् १६ वीं शता.। महत्त्वपूर्ण टीका है। |
| **मुनि महनंदि** | पाहुडदोहा | वि॰ सं॰ १६ वीं शता. उत्तरार्ध। |
| **नरेन्द्रसेन** | प्रमाणप्रमेय-कलिका | ई. सन् १७३०-१७३३। |

**(ङ) अचार्यतुल्य काव्यकार एवं लेखक[1]**

| | | |
|---|---|---|
| **कवि परमेष्ठी (परमेश्वर)** | पुराण (त्रिषष्ठिशलाका) | ९ वीं शताब्दी से पूर्व। |
| **धनञ्जय** | नाममाला (धनञ्जय-निघण्टु), विषापहारस्तोत्र, द्विसन्धानमहाकाव्य | ई. सन् ८वीं शता.। समय-सम्बन्धी मतभेद है। कहा जाता है इनके पुत्र को सर्प ने डस लिया था जिसका विष दूर करने के लिए विषापहार स्तोत्र लिखा। द्विसन्धान में राम और कृष्ण का एक साथ चित्रण है। |

---

१. **अन्य कवि और लेखक (संस्कृत के)—**

**अजितसेन** (शृङ्गारमंजरी, अलंकार-चिन्तामणि), **विजयवर्णी** (शृङ्गारार्णव-चन्द्रिका), **पद्मनाभ कायस्थ, ज्ञानकीर्ति, धर्मधर, गुणभद्र-द्वितीय, श्रीधरसेन, नागदेव** (मदनपराजय), **पं. वामदेव** (भावसंग्रह आदि), **पं. मेधावी, रामचन्द्र-मुमुक्षु** (पुण्यास्रवकथाकोश), **वादिचन्द्र** (ज्ञानसूर्योदयनाटक आदि), **दोड्डय्य** (भुजबलिचरित), **पद्मसुन्दर** (भविष्यदत्तचरित, रायमल्लाभ्युदय), **पं. जिनदास** (होलिकारेणुचरित), **अरुणमणि** (अजितपुराण), **जगन्नाथ** (श्वेताम्बर-पराजय आदि)।

**(अपभ्रंश के)— चतुर्मुख, स्वयम्भु** (पउमचरिउ आदि), **पुष्पदंत** (महापुराण, णायकुमार-चरिउ आदि), **धनपाल** (भविसयत्तकहा), **धवल** (हरिवंशपुराण), **हरिषेण** (धर्मपरीक्षा), **वीर** (जम्बुस्वामिचरिउ), **श्रीचन्द्र, रइधू** (३७ रचनायें), **तारणस्वामी** (मालारोहण आदि १४ ग्रन्थ)।

**(हिन्दी के)— बनारसीदास** (समयसारनाटक आदि), **भूधरदास** (पार्श्वपुराण, जिनशतक), **द्यानतराय, आचार्यकल्प पं. टोडरमल** (मोक्षमार्गप्रकाशक आदि ११ ग्रन्थ), **तनसुखदास, पं. दौलतराम कासलीवाल, पं. जयचन्द्र छावड़ा, बुधजन, वृन्दावनदास** आदि।

इनके अतिरिक्त **आदिपम्प पोन्न** आदि **कन्नड कवि, तिरुतक्कतेवर** आदि **तमिल कवि, जिनदास** आदि **मराठी** कवि हैं।

| *शास्त्रकार-आचार्य* | *शास्त्र* | *समय, परिचयादि* |
|---|---|---|
| **असग** | वर्द्धमान चरित, शान्तिनाथ चरित | ई. सन् १० वीं शताब्दी। व्याकरण तथा काव्य के ज्ञाता थे। |
| **हरिचन्द्र** | धर्मशर्माभ्युदय, जीवन्धरचम्पू | ई. सन् १० वीं शताब्दी। दोनों काव्य उत्तम कोटि के हैं। |
| **वाग्भट्ट प्रथम** | नेमिनिर्वाणकाव्य | ई. १०७५-११२५। वाग्भट्ट कई हुए हैं। |
| **चामुण्डराय** | चारित्रसार, चामुण्डरायपुराण (त्रिषष्ठी-लक्षण महापुराण) | ई. सन् १० वीं शता.। इन्होंने श्रवणवेलगोला में बाहुबलिस्वामी की मूर्ति की प्रतिष्ठा ई. सन् ९८१ में कराई थी। |
| **अभिनव वाग्भट्ट** | काव्यानुशासन, छन्दोनुशासन, आदि | वि. सं १४ वीं शता.। इनके अन्य ग्रन्थ भी हैं। |
| **आशाधर** | धर्मामृत (सागार और अनगार) | वि. १३ वीं शता.। इनकी बीस रचनायें हैं। |
| **अर्हद्दास** | मुनिसुव्रतकाव्य, पुरुदेवचम्पू | वि. १४ वीं शता.। अन्य रचना— भव्यजनकण्ठाभरण |
| **राजमल्ल** | लाटीसंहिता, जम्बूस्वामीचरित, अध्यात्मकमल-मार्त्तण्ड, पंचाध्यायी (अपूर्ण), पिङ्गलशास्त्र | वि. १७वीं शता.। पंचाध्यायी का द्वितीय अध्याय भी अपूर्ण ही है परन्तु जैनसिद्धान्तों के हृदयङ्गम करने के लिए बहुत उपयोगी है। लाटीसंहिता में श्रावकाचार है। ये काष्ठासंघी विद्वान् थे। कई नए सिद्धान्त प्रस्तुत किए हैं। |
| **अभिनव चारुकीर्ति** | प्रमेयरत्नालंकार, | ई. १६वीं शता.। प्रमेयरत्नमाला की प्रमेयरत्नालंकार |
| **पण्डिताचार्य** | गीत-वीतराग | टीका है। |
| **दौलतराम द्वितीय** | छहढाला | वि. सं. १८५५-५६ के मध्य। |

# द्वितीय परिशिष्ट : संकेताक्षर और सहायक ग्रन्थ-सूची

| संकेताक्षर[1] | ग्रन्थ | प्रकाशन |
|---|---|---|
| अन॰ध॰ | **अनगारधर्मामृत** | पं॰ आशाधर, शोलापुर, ई॰ १९२७ |
| — | **अमितगति श्रावकाचार** | दि॰ जैन पुस्तकालय, सूरत, वि॰सं॰ २४८४ |
| — | **अष्टसहस्री** | आ॰ विद्यानन्द, दि॰ जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर, ई॰ १९७२ |
| आ॰अनु॰ | **आत्मानुशासन** | गुणभद्र, सनातन जैन ग्रन्थमाला, ई॰ १९०५ |
| आप्त॰प॰ | **आप्तपरीक्षा** | आ॰ विद्यानन्द, वीरसेवामन्दिर, सरसावा, वि॰सं॰ २००६ |
| आ॰मी॰ | **आप्तमीमांसा (देवागम)** | समन्तभद्राचार्य, वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट, दिल्ली, ई॰१९६७ |
| — | **आस्पेक्ट ऑफ जैनोलाजी** | ग्रन्थाङ्क ३, पा॰वि॰शोध संस्थान, वाराणसी, ई॰ १९९१ |
| — | **इष्टोपदेश** | वीरसेवा मन्दिर, दिल्ली |
| — | **एकीभावस्तोत्र** | ज्ञानपीठपूजाञ्जलि, वाराणसी, १९५७ |
| क॰पा॰ | **कसायपाहुड** | गुणधराचार्य, जयधवलाटीका सहित, दि॰ जैन संघ, मथुरा, वि॰सं॰ २००० |
| का॰आ॰ | **कार्तिकेयानुप्रेक्षा** | राजचन्द्र ग्रन्थमाला, ई॰ १९६० सामायिक दण्डकी टीकासहित |
| — | **क्रियाकलाप** | पन्नालाल सोनी, आगरा, वि॰सं॰ १९९३ |
| — | **क्रियाकोश** | पं॰ दौलतराम |
| क्षपणा | **क्षपणासार** | जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता |
| — | **गुणभद्र श्रावकाचार** | श्रावकाचार संग्रह, भाग १ |
| गो॰ क॰ | **गोम्मटसार कर्मकाण्ड** | नेमिचन्द्राचार्य सिद्धान्तचक्रवर्ती, जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता |
| गो॰कर्म॰ | **गोम्मटसार कर्मकाण्ड** | जैन सि॰प्र॰संस्था, कलकत्ता |
| गो॰ कर्म/ जी॰प्र॰ | **जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका,** | जैन सि॰ प्र॰ संस्था, कलकत्ता |
| गो॰जी॰ | **गोम्मटसार जीवकाण्ड** | जैन सि॰प्र॰ संस्था, कलकत्ता |

१. अन्य संकेताक्षर— उ॰ > उत्तरार्द्ध। गा॰ > गाथा। टि॰ > टिप्पण। पृ. > पृष्ठ।

| | | |
|---|---|---|
| गो॰जी॰/ जी॰प्र॰ | **जीवतत्त्वप्रदीपिका** | जैन सि॰प्र॰ संस्था, कलकत्ता |
| ज्ञा॰ | **ज्ञानार्णव** | शुभचन्द्राचार्य राजचन्द्र ग्रन्थमाला, ई. १९०७ |
| — | **ज्ञानसार** | पद्मसिंह मुनि, भा॰दि॰ जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि॰सं॰ १९७५ |
| — | **चारित्तपाहुड** | माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, वि॰सं॰ १९७७ |
| चा॰सा॰ | **चारित्रसार** | चामुण्डराय, मणिकचन्द ग्रन्थमाला, बम्बई, वि॰सं॰ १९७४ |
| — | **चैत्यभक्ति टीका** | |
| — | **जयधवला (कषायपाहुड टीका)** | दि॰ जैन संघ, मथुरा, वि॰सं॰ २००० |
| — | **जिनसहस्रनाम** | ज्ञानपीठ पूजाञ्जलि, बनारस १९५७ |
| ज॰प॰ | **जंबूदीवपण्णत्तिसंगहो** | जैन संस्कृति संरक्षण संघ, शोलापुर, वि॰सं॰ २०१४ |
| — | **जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश** | भारतीय ज्ञानपीठ, द्वि॰सं॰, सन् १९८७ |
| त॰अनु॰ | **तत्त्वानुशासन** | वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, दिल्ली, ई॰ १९६३ |
| त॰वृ॰ | **तत्त्वार्थवृत्ति** | भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, ई॰ १९४९ |
| त॰सार | **तत्त्वार्थसार** | अमृतचन्द्राचार्य, जैन सि॰प्र॰ संस्था, कलकत्ता, ई॰ १९२९ |
| त॰सू॰ | **तत्त्वार्थसूत्र** | गणेशवर्णी जैन संस्थान, वाराणसी, ई॰ १९९१ |
| ति॰प॰ | **तिलोयपण्णत्ति** | यतिवृषभाचार्य, जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, वि॰सं॰ १९९९ |
| — | **तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा** | अ॰भा॰दि॰ जैन विद्वत् परिषद्, सागर १९७४ |
| त्रि॰सा॰ | **त्रिलोकसार** | नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, जैनसाहित्य, बम्बई, ई॰ १९१८ |
| द॰पा॰ | **दर्शनपाहुड** | मणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, वि॰सं॰ १९७७ |
| द॰सा॰ | **दर्शनसार** | नाथूराम प्रेमी, बम्बई, वि॰सं॰ १९७४ |
| द्र॰सं॰ | **द्रव्यसंग्रह** | देहली, ई॰ १९५३ |
| ध॰ | **धवला (षट्खण्डागम टीका)** | अमरावती, प्रथम संस्करण |
| — | **नयचक्रबृहद्** | श्री देवसेनाचार्य, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, वि॰सं॰ १९७७ |
| नि॰सा॰/ | **नियमसार** | कुन्दकुन्दाचार्य, कुन्दकुन्दभारती, फल्टन १९७० |





| | | |
|---|---|---|
| ता॰वृ॰/क॰ | | (तात्पर्यवृत्तिसहित) कलश |
| — | **न्यायदीपिका** | अभिनवधर्मभूषण, वीरसेवा मन्दिर, देहली, वि॰सं॰ २००२ |
| — | **न्यायदर्शनसूत्र** | महर्षि गौतम |
| पं॰का॰/ ता॰वृ | **पञ्चास्तिकाय** | कुन्दकुन्दाचार्य, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, वि॰सं॰ १९७२ |
| पं॰अ॰ | **पञ्चाध्यायी** | कवि राजमल्ल, देवकीनन्दन, ई॰ १९३२ |
| — | **पद्मनन्दि-पंचविंशतिका** | जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, ई॰ १९२२ |
| पं॰सं॰प्रा॰ | **पंचसंग्रह (प्राकृत)** | भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, ई॰ १९६० |
| प॰पु॰ | **पद्मपुराण** | भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, वि॰सं॰ २०१६ |
| प॰मु॰ | **परीक्षामुख** | स्याद्वाद महाविद्यालय, काशी, प्र॰सं॰ |
| प॰प्र॰ | **परमात्मप्रकाश** | योगेन्दुदेव, राजचन्द्र ग्रन्थमाला (टीकासहित), वि॰सं. २०१७ |
| — | **परवार जैन समाज का इतिहास** | सिद्धान्ताचार्य पं॰ फूलचंद्र शास्त्री, भा॰दि॰ जैन परवार सभा, जबलपुर ई॰ १९९२ |
| पु॰सि॰ | **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय** | अमृतचन्द्राचार्य, नई दिल्ली, ई॰ १९८९ |
| प्र॰सा॰/ | **प्रवचनसार (तात्पर्यवृत्तिसहित)** | कुन्दकुन्दाचार्य, श्रीमहावीरजी, वी॰ नि॰ सं॰ २४९५ |
| बो॰पा॰ | **बोधपाहुड** | माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, वि॰सं॰ १९७७ |
| — | **भक्तामर स्तोत्र** | बृहद् महावीरकर्तन, महावीरजी १९६८ |
| भ॰आ॰ | **भगवती आराधना** | आ॰शिवार्य सखाराम दोशी, शोलापुर, ई॰ १९३५ |
| — | **भगवान् महावीर और उनका तत्त्वदर्शन** | आ॰ देशभूषण। |
| भा॰पा॰ | **भावपाहुड** | माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, वि॰सं॰ १९७७ |
| — | **भावसंग्रह** | देवसेनकृत |
| म॰पु॰ | **महापुराण** | जिनसेनाचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, ई॰ १९५१ |
| मू॰आ॰ | **मूलाचार** | वट्टकेर, अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, वि॰सं॰ १९७६ |
| मू॰आ॰ | **मूलाचार एक समीक्षात्मक** | वसुनंदिकृत आचारवृत्तिसहित, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, ई॰ १९८४ |
| — | **मूलाचार एक अध्ययन** | डॉ॰ फूलचन्द्र प्रेमी, पा॰ वि॰ शोधसंस्थान, बनारस, ई. १९८७ |
| मो॰पा॰ | **मोक्षपाहुड** | माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, वि॰सं॰ १९७७ |

| | | |
|---|---|---|
| — | **युक्त्यनुशासन** | वीरसेवा मन्दिर, सरसावा, ई॰ १९५१ |
| — | **योगसार** | अमितगति, जै॰ सि॰ प्र॰ संस्था, कलकत्ता, ई॰ १९१८ |
| र॰क॰ | **रत्नकरण्डश्रावकाचार** | समन्तभद्राचार्य, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, ई॰ १९८९ |
| र॰सा॰ | **रयणसार** | कुन्दकुन्द, वी॰नि॰ ग्रन्थप्रकाशन समिति, इन्दौर, वी॰नि॰सं॰ २५०० |
| रा॰वा॰ | **राजवार्तिक (तत्त्वार्थवार्तिक)** | अकलंक, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९४४ |
| — | **लघु सिद्धभक्ति** | |
| — | **लब्धिसार,** | जैन सि॰प्र॰ संस्था, कलकत्ता, प्रथम संस्करण |
| — | **लाटीसंहिता** | कवि राजमल्ल, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, वि॰सं॰ १९८४ |
| — | **लिंगपाहुड** | माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, वि॰सं॰ १९७७ |
| वसु॰श्रा॰ | **वसुनन्दि-श्रावकाचार** | भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, वि॰सं॰ २००७ |
| — | **शीलपाहुड** | माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, वि॰सं॰ १९७७ |
| — | **श्लोकवार्तिक (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक)** | आ॰ विद्यानन्द, कुन्थुसागर ग्रन्थमाला, शोलापुर, ई॰ १९४९-१९५६ |
| — | **श्रमण** | पा॰वि॰शो॰ संस्थान, पत्रिका, बनारस |
| — | **श्रुतावतार** | वसुनंदि |
| — | **षट्खण्डागम** | वीरसेनकृत धवलाटीकासहित, पुष्पदंत भूतबलि, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, ई॰ १९७३ |
| — | **सप्तभङ्गीतरङ्गिनी** | परमश्रुत प्रभावक मण्डल, वि॰सं॰ १९७२ |
| — | **समाधिशतक** | वीरसेवा मन्दिर, देहली, सं॰वि॰ २०२१ |
| स॰सा॰ | **समयसार** | कुन्दकुन्दाचार्य, अहिंसा मन्दिर प्रकाशन, देहली, ई॰ १९५८ |
| स॰सा॰ | **सर्वार्थसिद्धि** | आ॰ पूज्यपाद, भारतीय ज्ञानपीठ,बनारस, ई॰ १९५५ |
| स्या॰म॰ | **स्याद्वादमञ्जरी** | मल्लिषेण, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, वि॰सं॰ १९९१ |
| — | **स्वयम्भूस्तोत्र** | वीरसेवा मन्दिर, सरसावा, ई॰ १९५१ |
| — | **सागारधर्मामृत** | पं॰ आशाधर, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९७८ |
| — | **सामायिकपाठ** | अमितगति |
| सू॰पा॰ | **सूत्रपाहुड** | माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई वि॰सं॰ १९७७ |
| — | **हरिवंशपुराण** | जिनसेनाचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, प्र॰स॰। |

परन्तु वर्षाकाल में चार माह या आषाढ शुक्ला दसमीं से कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा तक एक स्थान में रहे। दुर्भिक्षादि के आने पर तथा अध्ययन आदि प्रयोजनवश इस सीमा में क्रमशः हानि-वृद्धि की अनुमति दी जा सकती है।

वर्षा ऋतु में चारों ओर हरियाली होने, मार्गों के अवरुद्ध होने तथा पृथिवी पर त्रस-स्थावर जीवों की संख्या बढ़ जाने से अहिंसा, संयम आदि का पालन कठिन हो जाता है। अतएव साधु को इस काल में एक स्थान पर रहने का विधान किया गया है। वर्षायोग को दसवाँ पाद्य नामक स्थितिकल्प कहा गया है।[१] अनगारधर्मामृत में वर्षावास के सम्बन्ध में कहा है कि — आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी की रात्रि के प्रथम प्रहर में चैत्यभक्ति आदि करके वर्षायोग ग्रहण करना चाहिए तथा कार्तिक कृष्णा चतुर्दर्शी की रात्रि के पिछले पहर में चैत्य-भक्ति आदि करके वर्षायोग छोड़ना चाहिए।[२] वर्षावास के समय में जो थोड़ा अन्तर है वह उतना महत्त्व का नहीं है, जितना महत्त्व वर्षा होने की परिस्थितियों से है, क्योंकि अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग समयों में वर्षा प्रारम्भ होती है। अतएव प्रयोजनवश इसमें हानि-वृद्धि का विधान है। मूल उद्देश्य है अहिंसा और संयम का प्रतिपालन। मूलाचार आदि प्राचीन मूल ग्रन्थों में वर्षायोग का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है, परन्तु उनकी टीकाओं में है।[३]

## रात्रिविहार-निषेध

सूर्योदय के पूर्व तथा सूर्यास्त के बाद रात्रि में सूक्ष्म और स्थूल जीवों का संचार ज्यादा रहता है तथा अन्धकार होने से वे ठीक से दिखलाई नहीं पड़ते, अतएव संयम-रक्षार्थ रात्रिविहार निषिद्ध है। मल-मूत्रादि विसर्जनार्थ रात्रि में गमन कर सकता है, परन्तु रात्रि-पूर्व ऐसे स्थान का अवलोकन कर लेना चाहिए।[४] आजकल प्रकाश की व्यवस्था हो जाने से दिखलाई तो कुछ ज्यादा पड़ता है परन्तु उतना नहीं जितना सूर्य के प्रकाश में दिखता है तथा रात्रिजन्य स्वाभाविक जीवोत्पत्ति तो बढ़ ही जाती है। इसके अलावा सर्वत्र प्रकाश की व्यवस्था नहीं रहती और साधु न तो स्वयं प्रकाश की व्यवस्था कर सकता है और न करा सकता है।

१. भ॰आ॰, वि॰ ४२१/६१६/१०

२. अनगारधर्मामृत ९/६८-६९

३. वर्षाकालस्य चतुर्षु मासेषु एकत्रैवावस्थानं भ्रमणत्यागः। –भ॰आ॰, वि॰टी॰ ४२१; तथा देखें, मूलाचारवृत्ति १०/१८

४. मूलाचार ३२३



## नदी आदि जलस्थानों में प्रवेश (अपवाद मार्ग)

सामान्यतः जल से भीगे स्थान में नहीं चलना चाहिए। यदि जाना आवश्यक हो तो सूखे स्थान से ही जाना चाहिए, भले ही वह रास्ता लम्बा क्यों न हो। अपवाद-स्थिति होने पर कभी-कभी विहार करते समय जलस्थानों को पार करना पड़ता है। यदि जल घुटनों से अधिक न हो तो पैदल जाया जा सकता है। जल में प्रवेश करने के पूर्व साधु को पैर आदि अवयवों से सचित्त और अचित्त धूलि को दूर करना चाहिए और जल से बाहर आने पर पैरों के सूखने तक जल के समीप किनारे पर ही खड़ा रहना चाहिए। जलस्थान पार करते समय दोनो तटों पर सिद्ध-वन्दना करना चाहिए। दूसरे तट की प्राप्ति होने तक शरीर, आहार आदि का प्रत्याख्यान (परित्याग) करना चाहिए। दूसरे तट पर पहुँचकर दोष को दूर करने के लिए कायोत्सर्ग करना चाहिए।

यह जलप्रवेश अपवाद मार्ग है। आज नदियों पर पुलों का निर्माण हो गया है, अतएव ऐसे जलप्रवेश के मौके प्रायः नहीं आते। अच्छा तो यही होगा कि यदि जाना अति आवश्यक न हो तो नहीं जाना चाहिए या दूसरा रास्ता अपनाना चाहिए। अपवाद मार्गों को अपनाना बिना आचार्य की आज्ञा के ठीक नहीं है।[१]

## गमनपूर्व सावधानी

साधु जब शीतल स्थान से उष्ण स्थान में अथवा उष्ण स्थान से शीतल स्थान में, श्वेत भूमि से रक्त भूमि में अथवा रक्त भूमि से श्वेत भूमि में प्रवेश करे

१. आचार्य शान्तिसागर के साथ घटी दो घटनाएं अपवादमार्ग के संदर्भ में विशेष ध्यान देने योग्य हैं—

(क). एक बार आचार्य धौलपुर स्टेट जा रहे थे। उन्हें नग्न देखकर लट्ठमार आ गए और लाठियों से पीटने लगे। जब राजा को पता चला तो उसने उन लट्ठमारों को पकड़वाया। पश्चात् आचार्य से पूछा, इन्हें क्या सजा देवें। उत्तर में आचार्य ने कहा यदि आप मेरी बात मानें तो इन्हें माफ कर देवें। फलतः उन्हें माफ कर दिया गया और वे लट्ठमार आचार्य के भक्त हो गए।

(ख). एक बार दिल्ली में कलक्टर का आदेश था कि जैन नग्न साधु सड़क पर न निकलें। फलतः श्रावक साधु को चारों ओर से घेरकर ले जाते थे। एक बार आचार्यश्री अकेले पहाड़ी धीरज चले गए। जब वे वापस लौट रहे थे तो चौराहे पर सिपाही ने उन्हें रोंककर शासनादेश सुनाया। सड़क पर नग्नावस्था में जब उन्हें न आगे और न पीछे जाने दिया, तो आचार्य वहीं बीच सड़क पर बैठ गए। स्थिति की नाजुकता को देख कलक्टर ने उन्हें जाने की अनुमति दे दी। जामा मस्जिद के पास उनके चित्र भी लिए गए।

इन दोनों घटनाओं से स्पष्ट है कि कठिन परिस्थितियों में भी अपवाद मार्ग नहीं अपनाना चाहिए। दृढ़ता होने पर सब ठीक हो जाता है।

तो प्रवेश से पूर्व उसे पिच्छी से अपने शरीर का प्रमार्जन कर लेना चाहिए, जिससे विरुद्धयोनि-संक्रमण से क्षुद्र जीवों को बाधा न पहुँचे।[१]

### अनियत विहार

वीतरागी साधु को ममत्वरहित होकर सदा अनियत-विहारी होना चाहिए। अनियत विहार के कई लाभ हैं। जैसे– १. सम्यग्दर्शन की शुद्धि, २. स्थितिकरण, ३. रत्नत्रय की भावना एवं अभ्यास, ४. शास्त्रकौशल, ५. समाधिमरण के योग्य क्षेत्र की मार्गणा, ६. तीर्थङ्करों की जन्मभूमि आदि के दर्शन, ७. परीषह-सहन करने की शक्ति, ८. देश-देशान्तर की भाषाओं का ज्ञान, ९. अनेक मुनियों आदि का संयोग (जिससे आचारादि की विशेष जानकारी होती है), १०. अनेक आचार्यों के उपदेशों का लाभ आदि।[२] अर्हन्त भी अनियतविहारी हैं, परन्तु उनका विहार इच्छारहित होता है।[३]

### विहारयोग्य क्षेत्र एवं मार्ग

साधु को विहार के लिए प्रासुक और सुलभवृत्ति योग्य क्षेत्रों का ध्यान रखना चाहिए। जैसे— जहाँ गमन करने से जीवों को बाधा न हो, जो त्रस और वनस्पति जीवों से रहित हो, जहाँ बहुत पानी या कीचड़ न हो, जहाँ लोगों का निरन्तर गमन होता हो, जहाँ सूर्य का पर्याप्त प्रकाश हो, हल वगैरह से जोता गया हो, आदि।[४]

### एकाकी विहार का निषेध

कलिकाल में गण को छोड़कर एकाकी विहार करने पर कई दोषों की सम्भावनायें हैं। जैसे— दीक्षागुरु की निन्दा, श्रुत का विनाश, जिनशासन में कलंक, मूर्खता, विह्वलता, कुशीलपना, पार्श्वस्थता आदि। जो साधु संघ को

१. भ॰आ॰, वि॰ १५०/३४४/९

२. वसधीसु य उवधीसु य गामे णयरे गणे य सण्णिजणे।
सव्वत्थ अपडिबद्धो समासदो अणियदविहारी।। –भ॰आ॰ १५३/३५०
तथा देखिए, भ॰आ॰ १४२-१५०/३२४-३४४

३. देखें, देव-स्वरूप।

४. संजदजणस्स य जहिं फासुविहारो य सुलभवुत्तीय। –भ॰आ॰ १५२/३४९
तथा देखिए, मू॰आ॰ ३०४-३०६



छोड़कर एकाकी विहार करता है, वह पापश्रमण है। अंकुशरहित मतवाले हाथी की तरह वह विवेकहीन 'ढोढाचार्य' कहलाता है क्योंकि वह शिष्यपना छोड़कर जल्दी ही आचार्यपना प्राप्त करना चाहता है।[१] ऐसा मुनि यदि उत्कृष्ट तपस्वी तथा सिंहवृत्ति वाला भी हो तो भी वह मिथ्यात्व को प्राप्त होता है।[२] उत्कृष्ट वीतरागी एकलविहारी साधु की बात अलग है। परन्तु इस कलिकाल में नहीं।[३] अतः संघ के साथ ही विहार करना चाहिए।

विहार का मुख्य उद्देश्य है किसी एक स्थान में राग उत्पन्न न होने देना। विहार करते समय अहिंसा-पालनार्थ ईर्या-समिति का ध्यान रखना जरूरी है। आजकल के युग में एकाकी विहार को अनुपयुक्त कहा गया है, क्योंकि इसमें कई दोष हैं तथा संघ में विहार करने के कई लाभ हैं।

## गुरुवन्दना

जैनधर्म में गुणों की पूजा होती है। अतः जो गुणों में बड़ा होता है वही वन्दनीय है। श्रावकों से श्रमण गुणों में ज्येष्ठ हैं। अतएव श्रमण होने के पूर्व जो माता-पिता पहले वन्दनीय थे अब वह श्रमण उनके द्वारा वन्दनीय हो जाता है। क्षुल्लक से ऐलक, ऐलक से आर्यिका और आर्यिका से साधु श्रेष्ठ है। साधुओं में परस्पर ज्येष्ठता दीक्षाकाल की अधिकता से मानी जाती है। अतः जो दीक्षाकाल की अपेक्षा ज्येष्ठ है वही वन्दनीय है। गुणहीन कथमपि वन्दनीय नहीं है।[४]

### वन्दना का समय

दिन में तीन बार गुरु-वन्दना करनी चाहिए– प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल। अर्थात् प्रातःकालीन क्रियाओं को करने के बाद, माध्याह्निक देववन्दना

१. मूलाचार १५०-१५५, ९६१-९६२

२. उक्किट्ठसीहचरियं बहुपरियम्भो य गरुय भारो य।
जो विरहि सच्छंदं पावं गच्छदि होदि मिच्छत्तं।। –सूत्रपाहुड ९

३. आचारसार २७; मूलाचार (वृत्तिसहित) ४/१४९

४. णो वंदिज्ज अविरदं मादा पिदु गुरु णरिंदं अण्णतित्थं वा।
देशविरदं देवं वा विरदो पासत्थणगं वा।। –मू॰आ॰ ५९४
तथा देखें, प्रवचनसार ३/६८; अनगारधर्मामृत ८/५२
आलोयणाय करणे पडिपुच्छा पूयणे य सज्झाए।
अवराहे य गुरूणं वंदणमेदेसु ठाणेसु।। –मू॰आ॰ ६०१

के बाद तथा सन्ध्याकालीन प्रतिक्रमण के बाद गुरु-वन्दना करनी चाहिए। नैमित्तिक कारणों के उपस्थित होने पर नैमित्तिक-क्रिया के बाद भी वन्दना करना चाहिए।[१] आलोचना, सामायिक, प्रश्न-प्रच्छा, पूजन, स्वाध्याय और अपराध— इन प्रसङ्गों के उपस्थित होने पर गुणज्येष्ठ की वन्दना करनी चाहिए।[२] ऐसी वन्दना विनय तप है। स्वार्थवश या भयवश मिथ्यादृष्टि आदि के प्रति की गई वन्दना विनय तप नहीं है, अपितु अज्ञान है।

## वन्दना के अयोग्य काल

जब वन्दनीय आचार्य आदि एकाग्रचित्त हों, वन्दनकर्ता की ओर पीठ किए हुए हों, प्रमत्तभाव में हों, आहार कर रहे हों, नीहार में हों, मल-मूत्रादि का विसर्जन कर रहे हों, ऐसे अवसरों पर वन्दना नहीं करनी चाहिए।[३]

## वन्दना की विनयमूलकता

गुरु-वन्दना के मूल में विनय है। इस विनय के पाँच भेद हैं[४]— १. लोकानुवृत्तिहेतुक विनय, २. कामहेतुक विनय, ३. अर्थहेतुक विनय, ४. भयहेतुक विनय और ५. मोक्षहेतुक विनय। इन पाँच प्रकार की विनयों में से मोक्षहेतुक विनय ही आश्रयणीय है, अन्य नहीं।

## वन्दना के बत्तीस दोष

संयमी की ही वन्दना करनी चाहिए, असंयमी दीक्षागुरु की वन्दना कभी नहीं करनी चाहिए।[५] गुरुवन्दना करते समय निम्न बत्तीस दोषों को बचाना चाहिए।[६]

---

१. अन॰ध॰ ८.५४

२. वही। तथा देखिए, मू॰आ॰ ६०१, आचारसार ६५

३. वाखित्तपराहुतं तु पमत्तं मा कदाई वंदिज्जो।
आहारं च करंतो णीहारं वा जदि करेदि।। —मू॰आ॰ ५९९,
तथा देखें, अन॰ध॰ ८.५३.

४. अन॰ध॰ ८.४८; मू॰आ॰ ५८२

५. अन॰ध॰ ८.५२

६. अन॰ध॰ ८.९८-१११, —मू॰आ॰ ६०५-६०९



१. **अनादृत** (आदरभावरहित), २. **स्तब्ध** (ज्ञान, जाति आदि के मद से युक्त), ३. **प्रविष्ट** (परमेष्ठियों की अतिनिकटता में), ४. **परिपीड़ित** (अपने हाथों से घुटनों का स्पर्श करना), ५. **दोलायित** (झूले की तरह शरीर को आगे-पीछे करते हुए अथवा फल में सन्देह के साथ), ६. **अंकुशित** (मस्तक पर अंकुश की तरह अंगूठा रखकर), ७. **कच्छपरिङ्गित** (वन्दना करते समय बैठे-बैठे कछुए की तरह सरकना या कटिभाग को नचाना), ८. **मत्स्योद्वर्त** (मछली की तरह एक पार्श्व से उछलना), ९. **मनोदुष्ट** (गुरु आदि के चित्त में खेद पैदा करना), १०. **वेदिकाबद्ध** (दोनों हाथों से दोनों घुटनों को बांधते हुए या दोनों हाथों से दोनों स्तनों को दबाते हुए), ११. **भय** (सात प्रकार का भय), १२. **विभ्यता** (आचार्य-भय), १३. **ऋद्धिगौरव** (संघ के मुनि मेरे भक्त बन जायेंगे, ऐसी भावना), १४. **गौरव** (यशः या आहारादि की इच्छा), १५. **स्तेनित** (गुरु आदि से छिपकर), १६. **प्रतिनीत** (प्रतिकूलवृत्ति रखकर गुरु का आदेश न मानना), १७. **प्रदुष्ट** (वन्दनीय से द्वेष रखना, क्षमा न माँगना), १८. **तर्जित** (अंगुलि से भय दिखाकर या आचार्य से तर्जित होना), १९. **शब्द** (वार्तालाप करते हुए वन्दना), २०. **हेलित** (दूसरों का उपहास करना या आचार्य आदि का वचन से तिरस्कार करना), २१. **त्रिवलित** (मस्तक में त्रिवलि बनाना), २२. **कुंचित** (संकुचित होकर) २३. **दृष्ट** (अन्य दिशा की ओर देखना), २४. **अदृष्ट** (गुरु की आंखों से ओझल होकर या प्रतिलेखना न करना), २५. **संघकरमोचन** (वन्दना को संघ की ज्यादती मानना), २६. **आलब्ध** (उपकरण आदि की प्राप्ति होने पर), २७. **अनालब्ध** (उपकरणप्राप्ति की आशा), २८. **हीन** (कालादि के प्रमाणानुसार न करना), २९. **उत्तरचूलिका** (वन्दना शीघ्र करके उसकी चूलिकारूप आलोचना आदि में अधिक समय लगाना), और ३०. **मूक** (मौनभाव), ३१. **दर्दुर** (खूब जोरों से बोलना, जिससे दूसरों की आवाज दब जाए) और ३२. **सुललित** (गाकर पाठ करना)। इसी प्रकार अन्य दोषों की उद्भावना कर लेना चाहिए।

## वन्दना के पर्यायवाची नाम

कृतिकर्म, चितिकर्म, पूजाकर्म तथा विनयकर्म ये वन्दना के पर्यायवाची (एकार्थवाची) नाम हैं।[१] पापों के विनाशन का उपाय 'कृतिकर्म' है अर्थात् जिस

---

१. मू॰ आ॰ ५७८ (आचारवृत्तिटीकासहित)

अक्षर-समूह से या जिस परिणाम से या जिस क्रिया से आठों प्रकार के कर्मों को काटा जाता है उसे कृतिकर्म कहते हैं। पुण्यसंचय का कारणभूत 'चितिकर्म' कहलाता है। जिसके द्वारा कर्मों का निराकरण किया जाता है उसे 'विनयकर्म' या 'शुश्रूषा' कहते हैं।

### महत्त्व

वन्दना की गणना साधु के छह आवश्यकों में की जाती है तथा विनय को आभ्यन्तर तप स्वीकार किया गया है। अल्पश्रुत (अल्पज्ञ) भी विनय के द्वारा कर्मों का क्षपण कर देता है। अतएव किसी भी तरह विनय का परित्याग नहीं करना चाहिए।[१]

### कौन किसकी वन्दना करे और किसकी न करे?

गृहस्थ को सभी सच्चे साधुओं की वन्दना करनी चाहिए, जो सच्चे साधु नहीं हैं उनकी वन्दना नहीं करनी चाहिए। गृहस्थ को गुणों में अपने से श्रेष्ठ गृहस्थ की भी वन्दना करनी चाहिए। जैसे नीचे की प्रतिमाधारी अपने से ऊपर की प्रतिमाधारी की वन्दना करे। शेष वन्दना का क्रम लोकाचारपरक है। साधुओं में वन्दना का क्रम निम्न प्रकार है–

सच्चे विरत साधु को अपने से श्रेष्ठ आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर की वन्दना (कृतिकर्म) करनी चाहिए तथा अविरत माता, पिता, लौकिक-गुरु, राजा, अन्यतीर्थिक (पाखण्डी), देशविरतश्रावक, देवगति के देव तथा पार्श्वस्थ आदि शिथिलाचारी मुनियों की वन्दना नहीं करनी चाहिए।[२] लौकिक व्यापारयुक्त, स्वेच्छाचारी, दम्भयुक्त, परनिन्दक, आरम्भ-क्रियाओं आदि से युक्त श्रमण की वन्दना नहीं करनी चाहिए, भले ही वह चिरकाल से दीक्षित क्यों न हो?[३] साधु संघ में ब्रह्मचारी, क्षुल्लक, ऐलक और आर्यिकायें भी रहती हैं। ये क्रमशः गुणक्रम में ज्येष्ठ हैं। अतः ज्येष्ठक्रम से वन्दनीय हैं। जो साधु अथवा ब्रह्मचारी आदि श्रावक हैं वे यदि परस्पर समान कोटि के हैं तो दीक्षाक्रम या व्रतधारण के काल से ज्येष्ठ होने से वन्दनीय होंगे।

१. मू॰आ॰ ५९०-५९१

२. मू॰आ॰ ५९३-५९४, ५९७-५९८; मू॰आ॰, प्रदीप ३.४५०-४५७

३. मू॰आ॰ ९५९-९६०



### वन्दना कैसे करें?

देव, आचार्य आदि की वन्दना करते समय साधु को कम से कम एक हाथ दूर रहना चाहिए, तथा वन्दना के पूर्व पिच्छिका से शरीरादि का परिमार्जन करना चाहिए।[१] आर्यिकाओं को पाँच हाथ की दूरी से आचार्य की, छह हाथ की दूरी से उपाध्याय की, और सात हाथ की दूरी से श्रमण की वन्दना गवासन से बैठकर करनी चाहिए।[२] वन्दना को गुरु गर्वरहित होकर शुद्ध भाव से स्वीकार करे तथा प्रत्युत्तर में आशीर्वाद देवे।[३] आजकल श्रमणसंघ में साधु और आर्यिकाओं के अलावा साधु बनने के पूर्व की भूमिका वाले ऐलक, क्षुल्लक तथा ब्रह्मचारी भी रहते हैं। ऐलक और क्षुल्लक परस्पर 'इच्छामि' कहते हैं। मुनियों को सभी लोग 'नमोऽस्तु' (नमस्कार हो) तथा आर्यिकाओं को 'वंदामि' (वन्दना करता हूँ) कहते हैं। मुनि और आर्यिकायें नमस्कर करने वालों को निम्न प्रकार कहकर आशीर्वाद देते हैं–[४] यदि व्रती हों तो 'समाधिरस्तु' (समाधि की प्राप्ति हो) या 'कर्मक्षयोऽस्तु' (कर्मों का क्षय हो), अव्रती श्रावक-श्राविकायें हों तो 'सद्धर्मवृद्धिरस्तु' (सद्धर्म की वृद्धि हो), 'शुभमस्तु' (शुभ हो) या 'शान्तिरस्तु' (शान्ति हो); यदि अन्य धर्मावलम्बी हों तो 'धर्मलाभोऽस्तु' (धर्मलाभ हो), यदि निम्नकोटि वाले (चाण्डालादि) हों तो 'पापक्षयोऽस्तु' (पाप का विनाश हो)।

## अन्य विषय

### अन्य संघ से समागत साधु के प्रति आचार्य आदि का व्यवहार

किसी दूसरे संघ से साधु के आने पर वात्सल्यभाव से या जिनाज्ञा से उस अभ्यागत साधु का उठकर प्रणामादि के द्वारा स्वागत करना चाहिए। सात कदम आगे बढ़कर उसके रत्नत्रयरूप धर्म की कुशलता पूछनी चाहिए।[५] इसके बाद

१. मू॰आ॰ ६११

२. पंच छ सत्त हत्थे सूरी अज्झावगो य साधू य।
परिहरिऊणज्जाओ गवासणेणेव वंदंति।। –मू॰आ॰ १९५

३. मू॰आ॰ ६१२

४. नमोऽस्त्विति नतिः शास्ता समस्तमतसम्मता।
कर्मक्षयः समाधिस्तेऽस्त्वित्यार्यार्य जने नते।।
धर्मवृद्धिः शुभं शान्तिरस्त्वित्याशीरगारिणी।
पापक्षयोऽस्त्विति प्राज्ञैश्चाण्डालादिषु दीयताम्।। –आचारसार ६६-६७

५. मू॰आ॰ १६०-१६१.

तीन रात्रिपर्यन्त प्रत्येक क्रिया में उसके साथ रहकर उसकी परीक्षा करनी चाहिए।[1] परीक्षोपरान्त साधु यदि योग्य है तो उसे संघ में आश्रय देना चाहिए और यदि अयोग्य है तो आश्रय नहीं देना चाहिए।[2] यदि साधु में दोष हैं तो छेदोपस्थापना आदि करके ही संघ में रखना चाहिए। यदि बिना छेदोपस्थापना आदि किए आचार्य उसे संघ में रख लेते हैं तो आचार्य भी छेद के योग्य हो जाते हैं।[3] अपराध की शुद्धि उसी संघ में होना चाहिए जिसमें वह रहता है, अन्य में नहीं।[4]

### बाईस परीषह-जय[5]

साधु को मोक्षमार्ग की साधना करते समय भूख -प्यास आदि अनेक कष्ट सताते हैं। क्योंकि उनका सम्पूर्ण जीवन तपोमय है। तप की सफलता कष्टों को सहन किए बिना सम्भव नहीं है। शरीरादि के प्रति आसक्ति ही कष्ट का कारण है। अतः कष्टों के उपस्थित होने पर उन कष्टों को खेदखिन्न न होते हुए क्षमा-भाव से सहन करना परीषहजय है। इससे वे मार्गभ्रष्ट होने से बचे रहते हैं तथा कर्मनिर्जरा भी करते हैं। वे बाईस परीषह निम्न प्रकार हैं–

१. क्षुधा (भूख), २. तृषा (प्यास), ३. शीत (ठंढ़क), ४. उष्ण (गर्मी), ५. दंशमसक (मच्छर, डांस मक्खी आदि क्षुद्र जन्तुओं के काटने पर), ६. नाग्न्य (नग्न रहना), ७. अरति (संयम में अरुचि), ८. स्त्री (स्त्री आदि को देखकर कामविकार), ९. चर्या (विहार-सम्बन्धी), १०. निषद्या (श्मशान, शून्यगृहादि वसतिका-सम्बन्धी), ११. शय्या (शयन करने का ऊँचा-नीचा स्थान ), १२. आक्रोश (क्रोधयुक्त वचन सुनकर), १३. वध (मारने को उद्यत होने पर), १४. याचना (आहारादि याचनाजन्य), १५. अलाभ (आहारादि की प्राप्ति न होने पर), १६. रोग (बीमारी होने पर), १७. तृणस्पर्श (शुष्क तिनकों के चुभने का कष्ट), १८. मल (पसीना, धूलि आदि जन्य), १९. सत्कार-पुरस्कार (आदर-सत्कार आदि न होने पर), २०. प्रज्ञा (ज्ञानमद), २१. अज्ञान (ज्ञान की प्राप्ति न होने पर) और २२. अदर्शन (तपश्चर्या आदि का फल न दिखने पर श्रद्धान में कमी होना)।

१. मू॰आ॰ १६२-१६४
२. मू॰आ॰ १६७
३. मू॰आ॰ १६८
४. मू॰आ॰ १७६
५. अन॰ध॰ ६.४७६-४९०



इन परीषहों या अन्य उपसर्गों के आने पर साधु को साधना मार्ग से विचलित नहीं होना चाहिए। इन परीषहों को अथवा इनके समान अन्य परेशानियों को शान्त भाव से सहन करना ही परीषहजय है।

### साधु की सामान्य दिनचर्या[1]

| *संभावित समयक्रम* | *करणीय कार्य* |
|---|---|
| प्रातः ६-८ के मध्य | देववन्दना, आचार्यवन्दना, सामायिक एवं मनन |
| प्रातः ८-१० के मध्य | पूर्वाह्णिक स्वाध्याय |
| दिन में १०-२ के मध्य | आहारचर्या (यदि उपवासयुक्त है तो क्रम से आचार्य एवं देववन्दना तथा मनन)। आहार के बाद मंगलगोचर-प्रत्याख्यान तथा सामायिक |
| दोपहर २-४ के मध्य | अपराह्णिक-स्वाध्याय |
| सायं ४-६ के मध्य | दैवसिक-प्रतिक्रमण तथा रात्रि-योग-धारण |
| रात्रि ६-८ के मध्य | आचार्य-देववन्दना, मनन एवं सामायिक |
| रात्रि ८-१० के मध्य | पूर्वरात्रिक-स्वाध्याय |
| रात्रि १०-२ के मध्य | निद्रा |
| रात्रि २-४ के मध्य | वैरात्रिक-स्वाध्याय |
| रात्रि ४-६ के मध्य | रात्रिक-प्रतिक्रमण |

नोट- दैवसिक-क्रियाओं की तरह रात्रिक-क्रियाओं में समय का निश्चित नियम नहीं है। देश-कालानुसार इसमें थोड़ा संशोधन संभावित है। परन्तु करणीय कार्य यथावसर अवश्य करना चाहिए।

### आर्यिका-विचार

अर्यिका उपचार से महाव्रती है, पर्यायगत अयोग्यता के कारण वह साधु नहीं बन पाती। ऐलक और क्षुल्लक तो अभी श्रावकावस्था में ही हैं। अतएव उनमें उपचार से महाव्रतीपना नहीं है। जैसाकि सागारधर्मामृत में कहा है— एक कौपीन (लंगोटी) मात्र में ममत्व के कारण उत्कृष्ट श्रावक (ऐलक) महाव्रती नहीं है जबकि आर्यिका एक साड़ी रखकर भी उसमें ममत्व न होने के कारण उपचार

१. देखें, जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग २, पृ॰ १३७.

से महाव्रती है।[१] उत्तम संहनन वाले को ही मुक्ति मिलती है। स्त्रियों में जघन्य तीन संहनन माने गए हैं जिससे वे निर्विकल्पध्यान नहीं कर पातीं। नग्न दीक्षाव्रत पालन करना स्त्रियों को उचित नहीं है क्योंकि उनके साथ बलात्कार की संभावना अधिक है। इसके अलावा मासिक धर्म, लज्जा, भय आदि भी स्त्रियों में हैं। संभवतः इसीलिए स्त्रियों को नग्न-दीक्षा नहीं बतलाई गई है। शास्त्रसम्मत पर्यायगत अयोग्यता के कारण स्त्री महाव्रती नहीं हो पाती। उसे उपचार से महाव्रती कहा गया है। ऐलक को ऐसी पर्यायगत अयोग्यता नहीं है। अतएव उसे उपचार से भी महाव्रती नहीं कहा है। यही कारण है कि आर्यिका ऐलक के द्वारा वन्दनीय है। पिच्छी और कमण्डलु आर्यिका, ऐलक और क्षुल्लक सभी रखते हैं। आर्यिकाओं का आचारादि प्रायः मुनि के ही समान होता है।[२] जैसे– महाव्रतों का पालन करना, पिच्छी-कमण्डलु और शास्त्र रखना, करपात्र में आहार करना, केशलौञ्च करना आदि। परन्तु कुछ अन्तर भी हैं, जैसे– बैठकर भोजन करना (खड़े-खड़े नहीं); दो सफेद साड़ियों का परिग्रह रखना (एक बार में एक साड़ी पहनना), नग्न न रहना आदि।[३] पूर्णमहाव्रती न होने से दिगम्बर-परम्परा में आर्यिकाओं को तद्भव मोक्षगामी नहीं माना गया है। स्त्री-क्षुल्लिकायें भी होती हैं। सभी आर्यिकायें आचार्य के नेतृत्व में ही अपनी संयमयात्रा का निर्वाह करती हैं। श्रमण संघ में जो स्थान आचार्य का होता है वही स्थान आर्यिकासंघ में गणिनी (महत्तरिका, प्राधान आर्यिका, स्थविरा) का होता है। आर्यिका के आने पर साधु को उनके साथ एकाकी उठना-बैठना नहीं चाहिए।[४]

### उपसंहार

इस तरह साधु-जीवन आत्मशोधन का मार्ग है। इसके लिए उसे सतत जागरूक रहना होता है। प्रत्येक व्यवहार में यत्नाचारपूर्वक मन, वचन और काय की शुद्धि का ध्यान रखना होता है। वीतरागता, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, अहिंसा आदि का सम्यक् निर्वाह हो एतदर्थ मूलगुणों और उत्तरगुणों का पालन करना पड़ता

१. कौपीनेऽपि समूर्च्छत्वान्नार्हत्यार्यो महाव्रतम्।
अपि भाक्तममूर्च्छत्वात् साटकेऽप्यार्यिकार्हति।। –सागार० ८.३७

२. एसो अज्जाणं पि अ सामाचारो जहक्खिओ पुव्वं।
सव्वम्हि अहोरत्तं विभासिदव्वो जधाजोग्गं।। –मूलाचार ४.१८७

३. महाकवि दौलतरामकृत क्रियाकोश,
भ०आ० ७९, सुत्तपाहुड २२,

४. मू०आ० १७७-१८२



है। समय-समय पर विशेष तपश्चर्यादि करनी होती है। दिगम्बर जैन मान्यता में सवस्त्र की पूजा नहीं होती। अतः क्षुल्लकादि को गुरु नहीं कहा गया है।

साधुपद में चारित्र की प्रधानता है, श्रुत की नहीं।[१] क्योंकि चरित्रहीन साधु का बहुश्रुतज्ञपना भी निरर्थक है।[२] चारित्र की शुद्धि के लिए ही पिण्डादि शुद्धियों का विधान किया गया है।[३] ज्ञान का महत्त्व तब है जब व्यक्ति ज्ञान के अनुसार आचरण करे। ज्ञान हो और आचार न हो तो वह ठीक नहीं है। यह भी जानना चाहिए कि सम्यग्ज्ञान के बिना चारित्र सम्यक् नहीं हो सकता है। अतएव सम्यक्चारित्र के लिए सम्यग्ज्ञान-प्राप्ति हेतु सदा प्रयत्नशील रहे। यहाँ इतना विशेष है कि साधु तभी बने जब साधुधर्म का सही रूप में पालन कर सके। अपरिपक्व बुद्धि होने पर अथवा आवेश में दीक्षा न स्वयं लेवे और न दूसरों को देवे। पापश्रमण न बने। पापश्रमण बनने की अपेक्षा पुनः गृहस्थधर्म में आ जाना श्रेष्ठ है। साधुधर्म बहुत पवित्र धर्म है। अतएव जो इसका सही रूप में पालन करता है वह भगवान् कहलाता है; जैसाकि मूलाचार में कहा है–

जो आहार, वचन और हृदय का शोधन करके नित्य ही सम्यक् आचरण करते हैं वे ही साधु हैं। जिनशासन में ऐसे साधु को भगवान् कहा गया है।[४]

**अज्ञान-तिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया।**
**चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।**

**णमो आइरियाणं।**
**णमो उवज्झायाणं।**
**णमो लोएसव्वसाहूणं**

●

१. मू०आ० ८९९-९००

२. मू०आ० ९३५

३. मू०आ० ९०९

४. भिक्कं वक्कं सोधिय जो चरदि णिच्च सो साहू।
एसो सुट्ठिद साहू भणिओ जिणसासणे भयवं।। –मू०आ० १००६

## चतुर्थ अध्याय

# उपसंहार

आज के इस भौतिकवादी युग में जितनी सुख-सुविधाओं का आविष्कार हो रहा है, मनुष्य उतना ही अधिक मानसिक-तनाओं से ग्रसित होता जा रहा है। पहले भी मानसिक तनाव थे और भौतिकता के प्रति आकर्षण था परन्तु उस समय धार्मिक आस्था थी जो आज प्रायः लुप्त होती जा रही है। इन मानसिक तनाओं से तथा सांसारिक दुःखों से मुक्ति पाने के लिए मनुष्य विविध माध्यमों को अपनाते रहे हैं और आज भी अपना रहे हैं। इन्हें हम निम्न चार वर्गों में विभक्त कर सकते हैं–

**प्रथम वर्ग**– सुरापान, सुन्दरी-सेवन आदि विविध प्रकार के साधनों को अपनाकर कैंसर, एड्स आदि विविध शारीरिक रोगों को आमन्त्रित कर रहा है। **द्वितीय वर्ग**– स्वार्थों की पूर्ति हेतु या तो कपटाचार करता है या फिर किसी तरह जीवन-नौका को चलाता है। **तृतीय वर्ग**– संन्यासमार्ग को अपनाकर सुख की तलाश कर रहा है। यह वर्ग दो उपभागों में विभक्त है– पापश्रमण और सच्चे श्रमण। **चतुर्थ वर्ग**– मध्यस्थमार्ग अपनाकर संन्यासी तो नहीं बनता परन्तु गृहस्थ जीवन में सदाचारपरायण होते हुए या तो निष्पक्ष समाजसेवा आदि करता है या फिर अपने में ही लीन रहता है। इन चार वर्गों में से तृतीय वर्ग के सच्चेश्रमण तथा चतुर्थ वर्ग वाले श्रावक (सदाचारी गृहस्थ) ऐसे हैं जो सही दिशा में आगे बढ़ रहे हैं। श्रावकों के आदर्श गुरु हैं- सच्चे साधु (मुनि, तपस्वी)।

संन्यासमार्गी साधु वर्ग दो उपभागों में विभक्त है– सच्चे-साधु और खोटे-साधु (पापश्रमण, सदोषसाधु)। खोटे साधुओं के भी दो वर्ग हैं–

१. पहले वे जिनलिङ्गी साधु हैं, जो देखने में तो वीतरागी हैं और सच्चे देवों की उपासना भी करते हैं परन्तु अन्दर से मलिन हैं तथा सच्चे देवों की पूजा आदि के माध्यम से स्वार्थसिद्धि में लीन हैं। यशः की कामना अथवा स्वार्थसिद्धिहेतु ये सच्चे शास्त्रों के नाम पर मिथ्या उपदेश करते हैं। मन्त्र-तन्त्र, ज्योतिष आदि विविध क्रियाओं के माध्यम से लोगों को भ्रमित करते हैं। वस्तुतः ये साधु नहीं हैं अपितु साधुवेष में गृहस्थों पर अपना प्रभाव जमाते हैं। इनमें कुछ मठाधीश भी बन जाते हैं।



२. दूसरे खोटे-साधु वे हैं जो जिनलिङ्ग-बाह्य हैं और गृहस्थों की तरह रहते हुए भी अन्य गृहस्थों के आश्रित बने हुए हैं। इन दोनों प्रकार के खोटे-साधुओं से सदाचारी सद्गृहस्थ (श्रावक) श्रेष्ठ हैं। ये खोटे-साधु न तो ठीक से गृहस्थाश्रम का पालन करते हैं और न संन्यासाश्रम का। इनके लिए आत्मध्यान तथा आध्यात्मिक चेतना का सुख तो कोशों दूर है।

सच्चे-साधु भी दो प्रकार के हैं– १. सूक्ष्म रागयुक्त व्यवहाराश्रित सराग-साधु (छठे गुणस्थान से लेकर दसवें गुणस्थान-वर्ती साधु) तथा २. निश्चयनयाश्रित पूर्णवीतरागी साधु (ग्यारहवें गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थानवर्ती साधु)। वस्तुतः तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती साधुओं को अर्हन्त (जीवन्मुक्त) देव कहा गया है। ग्यारहवाँ और बारहवाँ गुणस्थान छद्मस्थ वीतरागियों का है। अतः ग्यारहवें गुणस्थान से पूर्व की विविध-अवस्थायें व्यवहाराश्रित साधु की हैं। पूर्ण अहिंसा, सत्य, आचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पाँच महाव्रतों के धारण करने से ही सच्चा साधु होता है। ये सच्चे साधु मन्त्र-तन्त्र प्रयोग तथा सांसारिक विविधक्रियाकलापों से बहुत दूर रहते हैं। यदि साधु बनने के बाद भी इनका प्रयोग करते हैं तो कैसे वीतरागी साधु? यदि इन प्रयोगों के द्वारा जनकल्याण की भावना है तो साधुवेष की अपेक्षा श्रावकवेष धारण करके समाजसेवा आदि पुण्य कार्यों को करना चाहिए। क्योंकि आगम में इनका प्रयोग साधु को वर्जित बतलाया है। सच भी है 'वीतरागी को ऐसे सांसारिक पुण्यकार्यों से क्या प्रयोजन'? जैसे श्रावक होकर पण्डितवर्ग ज्ञान देता है उसी प्रकार एक ऐसा श्रावक-पण्डित या भट्टारक हो जो मंत्रादि प्रयोगों को सिद्ध करके धर्मप्रभावनार्थ या देशसेवार्थ कार्य करे, स्वार्थपूर्ति हेतु नहीं। इससे साधु के स्वरूप में विकृति नहीं होगी।

पाँच महाव्रतों से अतिरिक्त अन्य तेईस मूलगुण, अनेक उत्तरगुण, पिच्छी कमण्डलु-धारण, विविध व्रत-नियम पालन आदि अहिंसादि पाँच महाव्रतों के संरक्षणार्थ हैं। आत्मचिन्तन में लीन होकर अपने शरीर तक से विरक्त हो जाना सच्चे साधु का लक्षण है। चूंकि जीवन्मुक्ति के पूर्व अथवा ग्यारहवें गुणस्थान के पूर्व सदाकाल आत्मचिन्तन में लीन (ध्यानमुद्रा) होना सम्भव नहीं है। अतः ध्यानेतर काल में कुछ अन्य क्रियायें भी करनी पड़ती हैं। शरीर-माध्यम से ही ध्यान-साधना हो सकती है। अतः भोजनादि में प्रवृत्ति करना अनिवार्य हो जाता है। भोजनादि में प्रवृत्ति करते समय आहार-विहार सम्बन्धी नियमों का परिपालन

करना पड़ता है। भोजनादि के न मिलने पर क्षुधादि कष्टों को सहन करना पड़ता है; यदि क्षुधादि कष्टों (परीषहों) के उपस्थित होने पर चञ्चल हुए तो साधु कैसे? हर्ष और विषाद दोनों-अवस्थाओं में समभाव वाला ही सच्चा साधु है, अन्य नहीं। ऐसा समदर्शी साधु ही हमारा आराध्य है, गुरु है। क्योंकि उसने शारीरिक, मानसिक और वाचिक सभी प्रकार के कष्टों पर विजय प्राप्त कर ली है। कष्टों का कारण है राग और जहाँ राग है वहीं द्वेष है। राग-द्वेष के होने पर क्रोधादि चारों कषायें और नौ नोकषायें होती हैं। अतः साधु को वीतरागी कहा है, क्योंकि जहाँ राग नहीं वहाँ द्वेषादि तथा कष्ट भी नहीं होते हैं। साधु ध्यान-साधना के द्वारा ही गुणस्थान की सीढ़ियों को चढ़ता है। ध्यान टूटते ही नीचे छठे गुणस्थान तक आ जाता है क्योंकि छठे गुणस्थान से ऊपर के सभी गुणस्थान ध्यान से सम्बन्धित हैं। ध्यान के चार भेद गिनाए गए हैं– आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यान। इनमें आर्त (इष्टवियोग-अनिष्टसंयोग-जन्य पीड़ा में एकाग्रता) और रौद्र (क्रोधादि परिणामों से जन्य एकाग्रता) ध्यान सर्वथा वर्जित हैं, शेष दो ध्यान ही करणीय हैं। शुक्ल ध्यान सर्वोत्कृष्ट है। ध्यान के लिए योग्य वसतिका का भी चयन आवश्यक है, अन्यथा ध्यान संभव नहीं है।

साधु-समुदाय शासन-व्यवस्था की दृष्टि से आचार्य (संघपति, दीक्षाचार्य, प्रधानसाधु), उपाध्याय (शास्त्रवेत्ता, अध्यापक) और सामान्य साधु इन तीन वर्गों में विभक्त है। कार्यानुसार अल्पकालिक बालाचार्य, निर्यापकाचार्य आदि अन्य व्यवस्थायें भी हैं। इस साधु-समुदाय में दीक्षाकाल की दृष्टि से ज्येष्ठता होती है और जो दीक्षा की अपेक्षा ज्येष्ठ होता है वही पूज्य होता है। यदि आचार्य किसी अपराधवश किसी साधु की दीक्षा का छेद करता है तो जितनी दीक्षा-अवधि कम की जाती है तदनुसार उसकी वरिष्ठता उतनी कम हो जाती है। ऐसी स्थिति में कभी-कभी उसे ऐसे साधु को भी नमस्कार करना पड़ता है जो दीक्षा-छेद के पूर्व उसे नमस्कार करता था। अचार्य सर्वोपरि होता है। इस तरह साधुवर्ग में चारित्र धारण-काल से ज्येष्ठता मानी गई है। यह एक व्यवहार-व्यवस्था है। निश्चय से तो केवली ही जान सकता है, अन्य नहीं। अतएव निश्चयनय को लेकर व्यवहार-व्यवस्था को तोड़ना उचित नहीं है। साधुओं में भी परस्पर गुरु-शिष्य भाव है परन्तु गृहस्थों के लिए सभी सच्चे साधु गुरु हैं, पूज्य हैं।

महिलाओं का अलग वर्ग है जिसे 'आर्यिका' कहा जाता है। इनमें जो प्रधान होती है उसे गणिनी (महत्तरिका, प्रधान-आर्यिका) कहते हैं। गणिनी आर्यिकासंघ



में आचार्यवत् कार्य करती है परन्तु प्रधानता आचार्य की ही रहती है। ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिका आदि यद्यपि साधुसंघ में रहते हैं परन्तु हैं वे श्रावक ही। अतः उन्हें गुरु नहीं कहा गया है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उन्हें नमस्कार नहीं करना चाहिए क्योंकि श्रावकों में भी परस्पर प्रतिमाओं के क्रम से श्रेष्ठता है। आर्यिका को ऐलक से अवश्य श्रेष्ठ बतलाया गया है क्योंकि वह उपचार से महाव्रती है और ऐलक अणुव्रती।

जब समदर्शी सच्चा साधु साधना के द्वारा समस्त कर्मों का क्षय कर देता है तो वह 'देव' बन जाता है। जीवन्मुक्त (तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती अर्हन्त) और विदेहमुक्त (सिद्ध) ये दोनों गुरु भी हैं और सच्चे देवों की कोटि में भी आते हैं। देवजाति के संसारी जीवों से पृथक् करने के लिए इन्हें 'देवाधिदेव' या भगवान् कहा जाता है। सर्वज्ञ और सर्वशक्तिसम्पन्न होकर भी ये सृष्टि आदि कार्यों से विरत रहते हैं, क्योंकि वीतरागी हैं, उन्हें कोई इच्छा नहीं है। वीतरागी होने से निन्दा-स्तुति का यद्यपि इन पर प्रभाव नहीं पड़ता, तथापि स्तुतिकारक और निन्दक अपने-अपने परिणामों के अनुसार शुभाशुभ फल अवश्य प्राप्त करते हैं। वस्तुतः प्रत्येक आत्मा परमात्मा (भगवान्) है। जब तक कर्म का आवरण है तब तक संसार है, शरीर है और कष्ट हैं। आवरण हटते ही शुद्ध आत्मज्योति दिव्यरूप से प्रकट हो जाती है। यही आत्मा का शुद्धरूप ही देवत्व है। इसके अतिरिक्त देवजाति के देवों में जो देवत्व है वह केवल भौतिक समृद्धि मात्र है। रागादि का सद्भाव होने से देवजाति के देव पूज्य नहीं हैं। कुछ देव जाति के देव सम्यग्दृष्टि भी हैं। सभी देवों की समृद्धि नित्य नहीं है। अर्हन्त और सिद्ध देवों की अनन्तचतुष्टयरूप समृद्धि अविनश्वर है तथा उनमें रागादि का सर्वथा अभाव होने से पूज्यता भी है। ऐसे अर्हन्त और सिद्ध देव ही सच्चे देव हैं।

यहाँ एक प्रश्न विचारणीय है कि क्या इन्द्र के आदेश से अर्हन्त की सेविका पद्मावती आदि देवियाँ और सेवक शासनदेवों की अर्हन्त के समान आराधना करनी चाहिए? उत्तर स्पष्ट है कि जैनशासन में मिथ्यादृष्टि कथमपि पूज्य नहीं हैं। शासन देवी-देवता भवनत्रिक के मिथ्यादृष्टी देव हैं और इन्द्र के आदेश से सेवक की तरह कार्य करते हैं। मिथ्यादृष्टि सेवक देवों से मोक्ष सुख की कामना करना आकाश-कुसुम को पाने की इच्छा की तरह निष्फल है। मिथ्यादृष्टि की आराधना से मिथ्यात्व ही बढ़ सकता है, सम्यक्त्व नहीं। उन्होंने अर्हन्तों की सेवा की है। अतएव उनके प्रति वात्सल्य भाव तो रखा जा सकता है, अर्हन्तवत् पूजा

नहीं। भ्रमवश कुछ ऐसे लोग हैं जो देव मन्दिरों में अर्हन्तदेव की उपेक्षा करके इन्हीं शासन देवी-देवताओं की पूजा बड़े भक्तिभाव से करते हैं। अज्ञानवश एवं भयवश कुछ ऐसे भी लोग हैं जो इन कुदेवों (मिथ्यादृष्टि देवों) के साथ अदेवों (कल्पित देवों = जिनका नाम जैन देवों में नहीं आता) की भी पूजा करते हैं। यह भी मिथ्यात्व है। वस्तुतः अध्यात्म-प्राप्ति हेतु अर्हन्त, सिद्ध और मुनि की पूजा की जाती है, सांसारिक समृद्धि के लिए नहीं। सांसारिक समृद्धि कृषि आदि सांसारिक व्यवसायों से करना चाहिए। अर्हन्त की पूजा से भी परिणामों की निर्मलता होने पर सांसारिक-समृद्धि अपने आप प्राप्त होती है। उनसे याचना करके निदानबंध करना उचित नहीं है। हमें यदि मांगना ही है तो अर्हन्त देवों से मांगें, अधम मिथ्यादृष्टि देवों से नहीं। महाकवि कालिदास ने ठीक ही कहा है– 'फल प्राप्त होने पर भी अधम से याचना नहीं करनी चाहिए। श्रेष्ठ (देवाधिदेव) से याचना करना ठीक है, भले ही वह निष्फल हो' (याञ्चा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा)। फिर अर्हन्त की आराधना कभी निष्फल नहीं होती।

ऐसे सच्चे देवों में रागादि का सर्वथा अभाव होने से उनके उपदेशादि कैसे होंगे? ऐसी आशंका होने पर कहा गया है कि अर्हन्त तीर्थङ्करों की दिव्यध्वनि सम्पूर्ण शरीर से खिरती है। वस्तुतः वे हमारी तरह बोलते नहीं हैं फिर भी उपस्थित जीव-समुदाय उन्हें देखकर अपनी-अपनी भाषा में कर्मों के क्षयोपशम के अनुसार समझ लेते हैं। सर्वाधिक समझने की शक्ति गणधरों में होती है। गणधर उस वाणी को समझकर शब्दरूप में हमें देते हैं। वह शब्दरूप वाणी ही सच्चे शास्त्र हैं। गणधरों ने सर्वप्रथम जिन ग्रन्थों की रचना की थी वे थे आचाराङ्ग आदि अङ्गप्रविष्ट ग्रन्थ। पश्चात् परवर्ती आचार्यों ने अन्य अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया। कालदोष से दिगम्बर मान्यतानुसार आचाराङ्ग आदि अंग-ग्रन्थ लुप्त हो गए। परन्तु बारहवें दृष्टिवाद नामक अङ्ग-ग्रन्थ के पूर्वों के एकांश-ज्ञाताओं द्वारा कषायपाहुड और षट्खण्डागम ग्रन्थ लिखे गए। इन्हीं के आधार पर कालान्तर में अन्य ग्रन्थ लिखे गए। इसी परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार आदि ग्रन्थों को लिखकर एक अभिनव क्रान्ति पैदा की जिससे आगे की परम्परा कुन्दकुन्द-आम्नाय के नाम से विख्यात हुई। पश्चात् उमास्वामी, समन्तभद्र आदि आचार्यों ने प्रामाणिक ग्रन्थों का प्रणयन किया।

आज प्रश्न इस बात का है कि आचार्यों के शास्त्रों के अर्थ को सही कैसे समझा जाए? इसके लिए आचार्यों ने निश्चय-व्यवहार आदि विविध नयदृष्टियाँ



प्रदान की हैं। साथ ही यह भी बतलाया कि निरपेक्ष एक नय की दृष्टि से किया गया कथन एकान्तवाद होगा, मिथ्यावाद होगा। अतः शास्त्रों का अर्थ करते समय स्याद्वाद-सिद्धान्तानुसार ही अर्थ करना चाहिए। इसके अतिरिक्त उत्सर्ग और अपवाद मार्गों का भी ध्यान रखना चाहिए। कहाँ, किस सन्दर्भ में क्या कहा गया है? इसका ध्यान रखना बहुत आवश्यक है अन्यथा भ्रम पैदा होंगे। कभी-कभी हम अपने अज्ञान या दुराग्रह के वशीभूत होकर सच्चे शास्त्रों की गलत व्याख्या कर देते हैं जो सर्वथा-अनुचित है। अतः अर्थ करते समय मूल सिद्धान्त नहीं भूलना चाहिए। सच्चे शास्त्र वही हैं जो स्याद्वाद-सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में वीतरागता का प्रतिपादन करते हैं। ऐसे सच्चे शास्त्र ही पूज्य हैं। इनसे भिन्न लौकिक अर्थों का व्याख्यान करनेवाले शास्त्र यहाँ अभिप्रेत नहीं हैं।

इस समस्त चिन्तन से स्पष्ट है कि आचार्य, उपाध्याय और साधु में आचारगत तात्त्विक भेद नहीं, अपितु औपाधिक भेद हैं। ये तीनों ही श्रमण गुरु शब्द के वाच्य हैं। ये ही सच्चे गुरु हैं। अचार्य, उपाध्याय और साधु ध्यान के द्वारा जब गुणस्थान क्रम से अर्हत् अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं तो उन्हें सच्चे देव कहने लगते हैं। इस अवस्था में वे परमौदारिकशरीरधारी हो जाते हैं जिससे उन्हें भूख, प्यास आदि नहीं लगती। शस्त्रादि का उनके शरीर पर प्रभाव नहीं पड़ता। आयुःकर्म के पूर्ण होने पर वे अशरीरी सिद्ध होकर लोकाग्र में स्थित हो जाते हैं। इस तरह सशरीरी अर्हन्त और अशरीरी सिद्ध दोनों ही सच्चे देव (भगवान्) हैं। इन्हें उपचार से सच्चे गुरु भी कहा गया है क्योंकि हमारे आदर्श ये ही हैं। जिनसे हमें इनकी वाणी का साक्षात् उपदेश मिलता है वे आचार्य, उपाध्याय और साधु हमारे सच्चे गुरु हैं। सच्चे देव और सच्चे गुरु की वाणी तथा उनकी वाणी का लिखित रूप ही सच्चे शास्त्र हैं। ऐसे सच्चे देव, शास्त्र और गुरु को मेरा शत शत वन्दन।

●

## प्रथम परिशिष्ट : प्रसिद्ध दिगम्बर जैन शास्त्रकार आचार्य और शास्त्र

### श्रेणी-क्रम से शास्त्रकारों और उनके शास्त्रों का परिचय

### (क) श्रुतधराचार्य

| *शास्त्रकार-आचार्य* | *शास्त्र* | *समय[1], परिचयादि* |
|---|---|---|
| **गुणधर** | कसायपाहुड (पेज्जदोसपाहुड) | वि.पू. प्रथम शताब्दी। अर्हद्बलि (वी.नि.सं. ५६५) या वि. सं. ९५ से पूर्ववर्ती। कसायपाहुड और षट्खण्डागम के अनेक तथ्यों में मतभेद है जिसे तन्त्रान्तर कहा है। |
| **धरसेन** | (षट्खण्डागम प्रवचनकर्त्ता) | ई. सन् ७३, नंदिसंघ की प्राकृत-पट्टावली के अनुसार वी.नि. सं. ६१४ के बाद। जोणिपाहुड (योनिप्राभृत) आपकी रचना है, ऐसा उल्लेख मिलता है। |
| **पुष्पदन्त** | छक्खण्डागम (षट्खण्डागम के जीवट्ठाण नामक प्रथम खण्ड की सत्प्ररूपणा पर्यन्त) | ई. सन् १-२ शताब्दी। डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन ई. सन् ५०-८०। नंदिसंघ की प्राकृतपट्टावली के अनुसार वी. नि. सं. ६३३ के बाद। कार्यकाल ३० वर्ष। ये भूतबलि से ज्येष्ठ थे। भूतबलि के साथ आपने धरसेनाचार्य से षट्खण्डागम सीखा। षट्खण्डागम लिखने का प्रारम्भ किया परन्तु अल्पायु होने से पूरा न कर सके। बाद में गुरु-भाई भूतबलि ने उसे पूरा किया। |
| **भूतबलि** | षट्खण्डागम | पुष्पदंताचार्य सम-समयवर्ती। ई. सन् ८७ के आसपास। पुष्पदंत से छोटे थे। डा. ज्योतिप्रसाद जैन ई. सन् ६६-९०। डा. हीरालाल जैन वी. नि. सं. ६१४-६८३। इन्होंने पुष्पदंत की रचना को पूर्ण किया। |
| **आर्यमंक्षु और नागहस्ती** | (श्रुतज्ञ और उपदेष्टा) | वि.नि.सं. ७वीं शताब्दी। श्वेताम्बर परम्परा में भी ये दोनों आचार्य मान्य हैं। वहाँ आर्यमंक्षु को |

१. वि. सं. से ई. सन् ५६ वर्ष पीछे है और वी. निं. सं. से ५२६ वर्ष पीछे है। आर्थात् ई. सन् में ५६ वर्ष जोड़ने पर वि. सं. और ५२६ वर्ष जोड़ने पर वी. नि. सं. आता है।



| *शास्त्रकार-आचार्य* | *शास्त्र* | *समय, परिचयादि* |
|---|---|---|
| | | वी.नि.सं. ५वीं शताब्दी का तथा नागहस्ती को वी.नि.सं. ७वीं शताब्दी का माना है। दोनों परम्पराओं में आर्यमंक्षु ज्येष्ठ हैं। दोनों क्षमाश्रमण तथा महावाचक पदों से विभूषित थे। जय-धवला में इन्हें आरातीय-परम्पराका ज्ञाता कहा है। चूर्णिसूत्रकार यतिवृषभ आर्यमंक्षु के शिष्य थे और नागहस्ती के अन्तेवासी (सहपाठी)। इन्द्रनंदि के श्रुतावतार में इन्हें कसायपाहुड-कर्ता गुणधराचार्य का शिष्य कहा है। मंगु और मंक्षु दोनों एकार्थक हैं। श्वे. परम्परा में मंगु नाम आया है। |
| **कुन्दकुन्द (पद्मनन्दि)** | प्रवचनसार, समयसार पंचास्तिकाय, नियमसार, द्वादशानुप्रेक्षा, अष्टपाहुड, रयणसार, दशभक्ति | ई. सन् प्रथम शताब्दी। नाथूराम प्रेमी वी. नि. सं. ६८३ के बाद। डा. देवेन्द्र कुमार गुणधराचार्य के आसपास। इनके समय के सम्बन्ध में कई मत हैं। आप युग-संस्थापक तथा श्रुतधराचार्यों में प्रमुख हैं। इनके ग्रन्थों के दो प्रमुख टीकाकार हैं— अमृतचन्द्राचार्य और जयसेनाचार्य। इनके जीवन की दो प्रमुख घटनायें हैं— विदेह क्षेत्र की यात्रा और गिरनार पर्वत पर श्वे. के साथ हुए वादविवाद में विजय। इनकी सभी रचनायें शौरसेनी प्राकृत में हैं। |
| **वज्रयश** | — | यतिवृषभ (ई. सन् १७६ के आसपास) से पूर्ववर्ती। तिलोयपण्णत्ति में उल्लेख आया है कि ये अंतिम प्रज्ञाश्रमण तथा ऋद्धिधारक थे। |
| **चिरन्तनाचार्य** | — | वप्पदेव (संभवतः ५-६ शताब्दी) से पूर्ववर्ती। जयधवलाटीकामेंउल्लेख है।येव्याख्यानाचार्यथे। |
| **यतिवृषभ** | कसायपाहुड-चूर्णिसूत्र, तिलोयपण्णत्ति | ई. सन् १७६ के आसपास। कुन्दकुन्द अवश्य आपसे प्राचीन रहे हैं। इन्हें भूतबलि का सम-समयवर्ती या कुछ उत्तरवर्ती भी कहा गया है। धवला और जयधवला में भूतबलि और यतिवृषभ के मतभेद की चर्चा आई है। तिलोयपण्णत्ति के वर्तमान संस्करण में कुछ ऐसी भी गाथायें हैं जो कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों |

| शास्त्रकार-आचार्य | शास्त्र | समय, परिचयादि |
|---|---|---|
| | | में हैं। कुछ प्रक्षिप्त गाथायें भी हैं जो दूसरे के द्वारा लिखी गई हैं। पं॰ हीरालाल के अनुसार कम्मपयडिचूर्णि भी आपकी रचना रही है। |
| **उच्चारणाचार्य (व्याख्यानाचार्य)** | —— | ई. सन् दूसरी-तीसरी शताब्दी। कसायपाहुड की जयधवला टीका में अनेक स्थानों पर उल्लेख है। श्रुतपरम्परा में उच्चारण की शुद्धता पर विशेष जोर देने के कारण उच्चारणाचार्यों की मौखिक परम्परा थी। इनका कथन पर्यायार्थिक नय की मुख्यतः से और चूर्णिकार यतिवृषभ का कथन द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से है। |
| **वप्पदेव** | व्याख्याप्रज्ञप्ति | यतिवृषभ, आर्यमंक्षु और नागहस्ती के समकालीन। धवलाकार वीरसेन स्वामी के समक्ष वप्पदेव की व्याख्याप्रज्ञप्ति थी। अतः आप वीरसेन स्वामी (डा. हीरालाल के मत से ई. सन् ८१६) के पूर्ववर्ती हैं। आपने शुभनंदी और रविनंदि से आगम ग्रन्थों का अध्ययन किया था। इन्होंने महाबन्ध को छोड़कर शेष पांच खण्डों पर व्याख्याप्रज्ञप्ति नामक टीका लिखी। छठे खण्ड पर संक्षिप्त विवृत्ति लिखी। पश्चात् कषायप्राभृत पर भी टीका लिखी। 'धवला से यह भी ज्ञात होता है कि व्याख्याप्रज्ञप्ति प्राकृतभाषारूप पुरातन व्याख्या है, वप्पदेव रचित नहीं।' ऐसा डा. नेमिचन्द्र शास्त्री का मत है। |
| **वट्टकेर** | मूलाचार | कुन्दकुन्दाचार्य के समकालीन। मुनि- आचार का सुन्दर और विस्तृत वर्णन इन्होंने मूलाचार में किया है। ये कुन्दकुन्दाचार्य से भिन्न हैं या अभिन्न, इसमें मतभेद है। श्री जुगलकिशोर मुख्तार तथा डा. ज्योतिप्रसाद जैन अभिन्न मानते हैं। कहीं कहीं मूलाचार को कुन्दकुन्दकृत भी लिखा है। डा. हीरालाल जैन, पं. नाथूराम प्रेमी आदि ने इन्हें कुन्दकुन्द से भिन्न माना है। इसकी कई गाथायें |



| शास्त्रकार-आचार्य | शास्त्र | समय, परिचयादि |
|---|---|---|
| | | श्वे. के दशवैकालिक सूत्र से मिलती-जुलती हैं। इसे संग्रहग्रन्थ भी कहा गया है। वसुनंदि (११वीं शताब्दी) की इस पर संस्कृत टीका है। |
| **उमास्वामी (गृद्धपिच्छाचार्य)** | तत्त्वार्थसूत्र | ई. सन् द्वितीय शताब्दी। कई इन्हें प्रथम शताब्दी का मानते हैं। संस्कृत के प्रथम जैनसूत्रकार हैं। श्वे. और दिग. दोनों परम्पराओं में मान्य हैं। श्वे. परम्परा में इन्हें उमास्वाति कहते हैं तथा स्वोपज्ञभाष्य सहित तत्त्वार्थसूत्र का रचयिता मानते हैं। कुछ आचार्य तत्त्वार्थसूत्र का कर्ता कुन्दकुन्द को मानते हैं। तत्त्वार्थसूत्र पर सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक आदि संस्कृत टीकायें हैं। जैन-परम्परा में तत्त्वार्थसूत्र का वही महत्त्व है जो इस्लाम में कुरान का, ईसाई धर्म में बाईबिल का और हिन्दू धर्म में भगवद्गीता का है। इसमें द्रव्यानुयोग, करणानुयोग और चरणानुयोग का सार समाहित है। |
| **शिवार्य (शिवकोटि)** | भगवती-आराधना | ई. सन् २-३ शताब्दी। ये यापनीय संघ के आचार्य हैं। यापनीय संघ श्वे. के सूत्र ग्रन्थों को मानता था। अतः इनकी बहुत सी गाथायें श्वे. से मिलती हैं। भगवती-आराधना मुनि-आचार विषयक महत्त्वपूर्ण रचना है। इस पर अपराजित सूरि (७-८ शता॰) की विजयोदया संस्कृत-टीका है। शिवनंदि और शिवकोटि भी इनके नाम संभव हैं। |
| **स्वामि कुमार (कार्तिकेय)** | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | वि. सं. २-३ शताब्दी। आपने कुमारावस्था में ही संभवतः मुनि-दीक्षा ले ली थी। ये उमास्वमी के सम-समयवर्ती या कुछ उत्तरवर्ती रहे हैं। बारह अनुप्रेक्षाओं के नाम और क्रम उमास्वामी की तरह हैं, मूलाचार, भगवती-आराधना तथा कुन्दकुन्द कृत द्वादशानुप्रेक्षा की तरह नहीं। |

| *शास्त्रकार-आचार्य* | *शास्त्र* | *समय, परिचयादि* |
|---|---|---|
| **(ख) सारस्वताचार्य** | | |
| **समन्तभद्र** | आप्तमीमांसा (देवागम स्तोत्र), बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र, स्तुतिविद्या (जिनशतक), युक्त्यनुशासन, रत्नकरण्ड-श्रावकाचार, जीवसिद्धि, प्राकृतव्याकरण, आदि। | ई. सन् द्वितीय शताब्दी। नाथूराम प्रेमी छठी शता॰। इनकी समता श्रुतधराचार्यों से की जा सकती है। प्रकाण्ड दार्शनिक और गम्भीर चिन्तक थे। संस्कृत के प्रथम जैन कवि। आपको भष्मक-व्याधि हो गई थी जो चन्द्रप्रभु की स्तुति से शान्त हुई थी तथा एक प्रभावक घटना भी घटी थी। अन्य रचनायें तत्त्वानुशासन, प्रमाणपदार्थ, कर्मप्राभृतटीका, गन्धहस्तिमहाभाष्य। |
| **विमलसूरि** | पउमचरियं | ई॰ सन् चौथी शताब्दी। कुछ विद्वान् दूसरी शताब्दी भी मानते हैं। ये यापनीय संघ के थे। प्राकृत भाषा में चरित-काव्य के प्रथम जैन कवि हैं। हरिवंशचरियं भी आपकी रचना है ऐसा कुछ विद्वान् मानते हैं। |
| **सिद्धसेन (सिद्धसेन दिवाकर)** | सन्मतितर्क (सन्मतिसूत्र या सन्मति-प्रकरण), कल्याणमन्दिरस्तोत्र | वि. सं. ६२५ के आसपास। समय के सम्बन्ध में मतभेद (१ से ८ वीं शता॰)। श्वे. और दिग॰ दोनों को मान्य हैं। ये सेनगण के आचार्य थे। समन्तभद्र से परवर्ती और पूज्यपाद से पूर्ववर्ती या समसामयिक रहे हैं। सिद्धसेन नाम के कई विद्वान् हुए हैं। श्वे. में 'दिवाकर' विशेषण मिलता है। पं॰ जुगलकिशोर मुख्तार ने कुछ द्वात्रिंशिकाओं एवं न्यायावतार (श्वे. में मान्य) के कर्ता सिद्धसेन को सन्मतितर्क के कर्ता से भिन्न माना है। ये प्रसिद्ध कवि और दार्शनिक (वादिगजकेसरी) थे। सन्मतिसूत्र प्राकृत भाषा में पद्यबद्ध जैन न्याय का अनूठा ग्रन्थ है। इसमें तीन काण्ड हैं। |
| **देवनन्दि पूज्यपाद** | सर्वार्थसिद्धि (तत्त्वार्थवृत्ति), समाधितन्त्र (समाधिशतक), | ई. सन् छठी शताब्दी। कवि, वैयाकरण और दार्शनिक थे। अन्य रचनायें हैं— इष्टोपदेश, दशभक्ति, जन्माभिषेक, सिद्धि-प्रियस्तोत्र, जैनेन्द्रव्याकरण। |



| *शास्त्रकार-आचार्य* | *शास्त्र* | *समय, परिचयादि* |
|---|---|---|
| **पात्रकेसरी (पात्रस्वामी)** | त्रिलक्षणकदर्थन (अप्राप्त), पात्रकेसरीस्तोत्र (जिनेन्द्रगुण-संस्तुति) | वि. सं. छठी शताब्दी उत्तरार्ध। आप कवि और दार्शनिक थे। इनका जन्म उच्च ब्राह्मण कुल में हुआ था। ये पार्श्वनाथ तीर्थङ्कर के चैत्यालय में प्रतिदिन जाया करते थे। |
| **जोइन्दु (योगीन्दु)** | परमात्मप्रकाश (अपभ्रंश), योगसार (अपभ्रंश), तत्त्वार्थटीका (सं॰), सुभाषिततन्त्र (सं॰) आदि | ई. सन् छठी का उत्तरार्ध। पूज्यपाद के बाद। अध्यात्मवेत्ता आचार्य थे। अन्य रचनायें-- नौकारश्रावकाचार (अपभ्रंश), अध्यात्म-संदोह (संस्कृत), दोहापाहुड (अपभ्रंश), अमृताशीती (सं॰), निजात्माष्टक (प्राकृत)। |
| **ऋषिपुत्र** | ऋषिपुत्रनिमित्तशास्त्र | ई. सन् ४-७ शताब्दी। प्रसिद्ध ज्योतिषवेत्ता थे। |
| **मानतुङ्ग** | भक्तामरस्तोत्र | ई॰ सन् ७वीं शताब्दी। श्वे. और दिग॰ दोनों में मान्य। भक्तामरस्तोत्र इतना प्रसिद्ध हुआ कि इसके एक-एक चरण को लेकर समस्यापूर्तिरूप कई स्तोत्र-काव्य लिखे गए। |
| **रविषेण** | पद्मचरित (पद्मपुराण) | वि॰सं॰ ८४० से पूर्व। पौराणिक चरित-काव्यकार। |
| **जटासिंहनन्दि** | वराङ्गचरित | सातवीं शताब्दी का उत्तरार्ध। पुराण-महाकाव्यकार। दाक्षिणात्य कवि। संभवतः अन्य रचनायें भी थीं। |
| **अकलङ्कदेव** | लघीयस्त्रय (स्वोपज्ञ वृत्तिसहित), न्यायविनिश्चय (स्वोपज्ञवृत्तिसहित), सिद्धिविनिश्चय (सवृत्ति), तत्त्वार्थवार्तिक = राजवार्तिक (सभाष्य) अष्टशती (देवागम-विवृत्ति), प्रमाणसंग्रह (सवृत्ति) | सातवीं शती उत्तरार्ध। समय-सम्बन्धी तीन मत– १. डा. पाठक का मत (ई. ७७८), २. जुगलकिशोर आदि (ई. ६४३) और ३. पं॰ महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य (ई॰ ८वीं शती)। ये जैन न्याय के प्रकाण्ड विद्वान् थे। शैली तार्किक एवं गूढ है परन्तु मार्मिक व्यङ्ग्य के प्रसङ्गों में सरस शैली है। बौद्धदर्शन में जो स्थान धर्मकीर्ति का है वही स्थान जैनदर्शन में अकलंक देव का है। इनकी ब्रह्मचर्यव्रत लेने की घटना अपूर्व थी। |

| *शास्त्रकार-आचार्य* | *शास्त्र* | *समय, परिचयादि* |
|---|---|---|
| **एलाचार्य** | —— | ई॰ ८-९वीं शताब्दी। वीरसेन (धवला, जयधवला टीकाकार) के विद्यागुरु थे। वीरसेन के समकालीन या कुछ पूर्ववर्ती। सिद्धान्तशास्त्र मर्मज्ञ थे। |
| **वीरसेन** | धवला (षट्खण्डागम टीका), जयधवला (कषायपाहुड टीका। बीस हजार श्लोकप्रमाण मात्र) | ई॰ सन् ८१६। एलाचार्य के शिष्य जिनसेन प्रथम ने अपने हरिवंशपुराण में इन्हें 'कवि-चक्रवर्ती' लिखा है। गणित, न्याय, ज्योतिष, व्याकरण आदि के ज्ञाता थे। भट्टारकपदवी-धारक तथा केवली के समान समस्त विद्याओं के पारगामी। टीकायें प्राकृत-संस्कृत-मिश्रित भाषा में हैं। जयधवला २० हजार श्लोक प्रमाण तक ही लिख पाए पश्चात् मृत्यु होने पर जिनसेन द्वितीय ने उसे पूरा किया। |
| **जिनसेन द्वितीय** | पार्श्वाभ्युदय (समस्यापूर्तिकाव्य), आदिपुराण (४२ पर्व तक), जयधवला टीका (बीस हजार श्लोक प्रमाण के बाद) | ई. सन् नौवीं शती। इन्होंने वीरसेन की जयधवलाटीका को पूरा किया और इनके आदिपुराण को (इनकी मृत्यु हो जाने पर) इनके शिष्य गुणभद्र ने शेष ५ पर्व और लिखकर पूरा किया। सम्पूर्ण रचना महापुराण के नाम से प्रसिद्ध है। प्रबुद्धाचार्य गुणभद्र (ई. १० शताब्दी) की रचना को उत्तरपुराण कहते हैं। |
| **विद्यानन्द** | आप्तपरीक्षा (सवृत्ति), प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशासन परीक्षा, विद्यानन्द महोदय, श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (सभाष्य), | ई. सन् नौवीं शताब्दी। दक्षिण भारत के कर्नाटक प्रान्त के निवासी थे। इनके सभी ग्रन्थ दर्शनशास्त्र के प्रामाणिक तथा प्रौढ़ ग्रन्थ हैं। अंतिम तीन रचनायें क्रमशः निम्न ग्रन्थों की टीकायें हैं— तत्त्वार्थसूत्र, आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासनस्तोत्र। राजाबलीकथे में जिस विद्यानन्दि का जीवनवृत्त आया है वे इनसे भिन्न परम्परापोषकाचार्य हैं। प्रौढ़ पाण्डित्य था। किंवदन्तियों के अनुसार इनका |



| *शास्त्रकार-आचार्य* | *शास्त्र* | *समय, परिचयादि* |
|---|---|---|
| | अष्टसहस्री (देवागमालङ्कार), युक्त्यनुशासनालङ्कार | जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनकी अष्टसहस्री जैनन्याय में अद्भुत ग्रन्थ है। इसे कष्टसहस्री भी कहा है। |
| **देवसेन** | दर्शनसार, भावसंग्रह, आराधनासार, तत्त्वसार, लघुनयचक्र, आलापपद्धति | वि. सं. ९९०-१०१२। भावसंग्रह इनकी रचना है या नहीं, मतभेद है। आलापपद्धति संस्कृतगद्यमयी रचना है, शेष रचनायें प्राकृत में हैं। दर्शन-सार में इन्हें देवसेनगणि, तत्त्वसार में मुनिनाथ देवसेन तथा आराधनासार में देवसेन लिखा है। |
| **अमितगति (प्रथम)** | योगसारप्राभृत | वि. सं. १०००। ये नेमिषेण के गुरु और देवसेन के शिष्य थे। |
| **अमितगति (द्वितीय)** | सुभाषितरत्नसंदोह, धर्मपरीक्षा, उपासकाचार, (अमितगति-श्रावकाचार), पञ्चसंग्रह (संस्कृत), प्राकृतपंचसंग्रह, आदि | वि. सं. १२ वीं शताब्दी। माथुरसंघ के आचार्य। ये माधवसेन के शिष्य तथा नेमिषेण के प्रशिष्य हैं। धर्मपरीक्षा संस्कृत में व्यङ्ग्यप्रधान उत्कृष्ट रचना है। अन्य रचनायें— लघु एवं बृहत् सामायिक पाठ, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति, सार्द्धद्वयद्वीप-प्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति ,व्याख्याप्रज्ञप्ति, आराधना और भावना-द्वात्रिंशतिका। |
| **अमृतचन्द्रसूरि** | पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (श्रावकाचार), तत्त्वार्थसार, समयसारकलश, समयसारटीका (आत्मख्याति), प्रवचनसारटीका (तत्त्वप्रदीपिका) पंचास्तिकायटीका (तत्त्वदीपिका) | ई. सन् १०वीं शती। पट्टावली में इनके पट्टारोहण का समय वि. सं. ९६२ दिया है। पं. आशाधर जी (वि. सं. १३००) ने आपका उल्लेख किया है। कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों का रहस्य इनकी व्याख्या के विना जानना कठिन था। ये मूल संघ के आचार्य थे और आध्यात्मिक विद्वान् थे। टीकाकारों में आपका वही स्थान है जो कालिदास कवि के टीकाकार मल्लिनाथ का है। विद्वत्ता अद्भुत थी। |

| *शास्त्रकार-आचार्य* | *शास्त्र* | *समय, परिचयादि* |
|---|---|---|
| **नेमिचन्द्र (सिद्धान्तचक्रवर्ती)** | गोम्मटसार (जीव-काण्ड और कर्मकाण्ड), त्रिलोकसार, लब्धिसार, क्षपणासार | ई॰ सन् १०वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध। अभयनंदि, वीरनंदि और इन्द्रनंदि गुरु थे। श्रवणबेलगोला में विंध्यगिरि पर भगवान् गोम्मटेश्वर (चामुण्डराय का देवता) बाहुबलि की प्रतिमा के प्रतिष्ठापक चामुण्डराय (गंगवंशी राजा राचमल्ल के प्रधानमंत्री एवं सेनापति) आपके शिष्य थे। देशीयगण के आचार्य थे। धवला और जयधवला का सार क्रमशः गोम्मटसार और लब्धिसार में संग्रहीत है। सिद्धान्तचक्रवर्ती अपकी उपाधि थी। |
| **नरेन्द्रसेन** | सिद्धान्तसारसंग्रह | वि.सं. १२वीं शताब्दी। ये धर्मरत्नाकर के कर्ता जयसेन के वंशज थे। सिद्धान्तसारसंग्रह अमृतचन्द्र के तत्त्वार्थसार की शैली में लिखा गया ग्रन्थ है। |
| **नेमिचन्द्र मुनि (सिद्धान्तिदेव)** | लघुद्रव्यसंग्रह, बृहद्द्रव्यसंग्रह (द्रव्यसंग्रह या लघुपंचास्तिकाय) | वि.सं. ११२५ के आसपास। बृहद्द्रव्यसंग्रह के संस्कृत टीकाकार हैं ब्रह्मदेव। डा. दरबारीलाल कोठिया ने निम्न चार नेमिचन्द्र गिनाए हैं— १. नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती (गोम्मटसारकर्ता), २. वसुनंदि सिद्धान्तिदेव के उपासकाध्ययन में उल्लिखित नेमिचन्द्र, ३. गोम्मटसार पर जीव-तत्त्वप्रदीपिका संस्कृत टीका के कर्त्ता और ४. द्रव्यसंग्रहकार। |

**सिंहनंदि आदि**[1]

**(ग) प्रबुद्धाचार्य**

| | | |
|---|---|---|
| **जिनसेन प्रथम** | हरिवंश पुराण | ई. सन् ७८३। अपूर्वकाव्यप्रतिभा। |
| **गुणभद्र** | आदिपुराण (४३वें पर्व के चौथे पद्य के बाद समाप्ति पर्यन्त), उत्तरपुराण, आत्मानुशासन, जिनदत्तचरितकाव्य | ई. सन ९वीं शता. का अंतिम चरण। अपने गुरु जिनसेन द्वितीय के अधूरे आदिपुराण को पूरा किया। संभवतः ये सेनसंघ के आचार्य थे। दक्षिण में कर्नाटक या महाराष्ट्र इनकी साधनाभूमि थी। सरलता और सरसता इनकी रचनाओं में समाहित है। |

१. **अन्य चर्चित सारस्वताचार्य— सिंहनन्दि** (ई. सन् २ री शता.। गंगराज वंश की स्थापना में सहायक। राजनीतिज्ञ और आगमवेत्ता), **सुमतिदेव** (सन्मतिटीकाकार, ८वीं. शता. के आसपास,), **कुमारनंदि** (वादन्यायकार, संभवतः वि. सं. ८वीं शता., विद्यानंद से पूर्ववर्ती), **श्रीदत्त** (जल्पनिर्णयकार, वि. सं. ४-५ शता., विद्यानंद के अनुसार ६३ वादियों के विजेता), **कुमारसेन गुरु** (काष्ठासंघ संस्थापक, विं. सं. ८वीं शता.), **वज्रसूरि** (द्राविड़संघसंस्थापक, संभवतः देवनंदि पूज्यपाद के शिष्य, छठी शता. के लगभग), **यशोभद्र** (तार्किक, संभवतः वि. सं. छठी शता. के पूर्व), **शान्त या शान्तिषेण** (वक्रोक्तिपूर्ण



| *शास्त्रकार-आचार्य* | *शास्त्र* | *समय, परिचयादि* |
|---|---|---|
| **शाकटायन पाल्यकीर्ति** | स्त्रीमुक्ति, केवलिभुक्ति | ई. सन् १०२५ के पूर्व। अन्य रचना— अमोघवृत्ति सहित शाकटायन शब्दानुशासन (व्याकरण)। |
| **वादीभसिंह** | छत्रचूडामणि, गद्यचिन्तामणि | ९वीं शता॰। जैन संस्कृत गद्य साहित्यकार। 'स्याद्वादसिद्धि' इनकी रचना है या अजितसेन की है, इसमें विवाद है |
| **महावीराचार्य** | गणितसारसंग्रह, | ई. ९वीं शता॰। जैनगणितज्ञ। इनकी एक रचना ज्योतिषपटल (अप्राप्त) भी है। |
| **बृहद् अनन्तवीर्य** | सिद्धिविनिश्चयटीका, प्रमाणसंग्रहभाष्य (प्रमाणसंग्रहालङ्कार) | ई. सन् ९७५-१०२५। रविभद्र के शिष्य थे। ये न्यायशास्त्र के पारंगत विद्वान् थे। इनके नाम वाले कई विद्वान् हुए हैं। |
| **माणिक्यनन्दि** | परीक्षामुख | ई. सन् ११वीं शता॰ प्रथम चरण। नंदीसंघ के प्रमुख आचार्य। आद्य जैनन्याय सूत्रकार। परीक्षामुख पर कई टीकायें हैं— प्रभाचन्द्रकृत-प्रमेयकमलमर्तण्ड, लघु अनन्तवीर्यकृत प्रमेयरत्नमाला, भट्टारक चारुकीर्तिकृत प्रमेय-रत्नमालालङ्कार, शान्तिवर्णिकृत प्रमेयकण्ठिका। |
| **प्रभाचन्द्र** | प्रमेयकमलमार्तण्ड (परीक्षामुख टीका), | ई. सन् ११वीं शता॰। समय के विषय में मदभेद है। कई प्रभाचन्द्र हुए हैं। अन्य रचनायें हैं– |

रचना करने में समर्थ, संभवतः ७वीं शता.), **विशेषवादि** (जिनसेन के हरिवंशपुराण और पार्श्वनाथचरित में उल्लेख), **श्रीपाल** (वि. सं. ९वीं शता., वीरसेन स्वामी के शिष्य), **काणभिक्षु** (जिनसेन ने कथाग्रन्थकार के रूप में उल्लेख किया है), **कनकनंदि सिद्धान्तचक्रवर्ती** (विस्तरसत्त्व-त्रिभंगीकार, ई. सन् १० वीं शता.)।

| शास्त्रकार-आचार्य | शास्त्र | समय, परिचयादि |
|---|---|---|
| | न्यायकुमुदचन्द्र (लघीयस्त्रय टीका), तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण (सर्वार्थसिद्धि-टीका), क्रियाकलापटीका | शाकटायन-न्यास (शाकटायन व्याकरण टीका), शब्दाम्भोजभास्कर (जैनेन्द्र व्याकरण टीका), प्रवचनसार-सरोजभास्कर (प्रवचनसार टीका), गद्यकथाकोष, आत्मानुशासनटीका, महापुराण टिप्पण, रत्नकरण्डश्रावकाचारटीका, समाधितन्त्र टीका। जुगल किशोर मुख्तार अंतिम दो को अन्य प्रभाचन्द्रकृत मानते हैं। |
| **लघु अनन्तवीर्य** | प्रमेयरत्नमाला (परीक्षामुख टीका) | वि. सं. १२ वीं शता॰ पूर्वार्द्ध। जैनन्याय ग्रन्थकार। |
| **वीरनन्दि** | चन्द्रप्रभचरित-महाकाव्य | ई. सन् ९५०-९९९। मनोभावों का सजीव चित्रण करने में सिद्धहस्त महाकवि। |
| **महासेनाचार्य** | प्रद्युम्नचरित-महाकाव्य | ई. सन् १० वीं शता॰ उत्तरार्ध। लाटवर्गट संघ के आचार्य। यह काष्ठासंघ की शाखा है। |
| **हरिषेण** | बृहत् कथाकोश | ई. ९३१। इस नाम के कई आचार्य हैं। |
| **सोमदेव सरि** | नीतिवाक्यामृत, यशस्तिलकचम्पू, अध्यात्मतरंगिणी (योगमार्ग) | ई. ९५९। तार्किक, रजनीतिज्ञ, धर्माचार्य तथा साहित्यकार। इनका यशस्तिलकचम्पू मध्यकालीन भारतीय संस्कृति के इतिहास का अपूर्व स्रोत है। |
| **वादिराज** | पार्श्वनाथचरित, यशोधरचरित, एकीभावस्तोत्र, न्यायविनिश्चय-विवरण, प्रमाणनिर्णय | ई. सन् ११वीं शता॰। इनका कुष्ठ रोग एकीभाव स्तोत्र से दूर हो गया था, ऐसा उल्लेख मिलता है। द्रविड़ (द्रमिल) संघ के आचार्य थे। दार्शनिक, वादिविजेता और महाकवि थे। इनकी षट्तर्कषण्मुख आदि उपाधियाँ थीं। |
| **पद्मनंदि प्रथम** | जंबूद्वीवपण्णत्ति, धम्मरसायण, प्राकृतपंचसंग्रहवृत्ति | ई. सन्. १०वीं शता॰। इस नाम के कई आचार्यों के उल्लेख हैं। आचार्य कुन्दकुन्द का भी एक नाम पद्मनंदि मिलता है। ये सिद्धान्त-शास्त्रज्ञ थे। |
| **पद्मनंदि द्वितीय** | पद्मनंदि पंचविंशतिका | ई. सन् ११वीं शता॰। लोकप्रिय रचना रही है जिसमें २६ विषय हैं। |



| शास्त्रकार-आचार्य | शास्त्र | समय, परिचयादि |
|---|---|---|
| **जयसेन प्रथम** | धर्मरत्नाकर | वि.सं. १०५५। लाडवागड संघ के थे। |
| **जयसेन द्वितीय** | समयसार टीका, प्रवचनसार टीका, पंचास्तिकाय टीका | ई. ११-१२ शता॰। इन टीकाओं का नाम है 'तात्पर्यवृत्ति'। शैली और अर्थ की दृष्टि से ये टीकायें अमृतचन्द्राचार्य से भिन्न हैं। |
| **पद्मप्रभ मलधारिदेव** | नियमसार-तात्पर्यवृत्तिटीका, पार्श्वनाथस्तोत्र | ई. १२ वीं शता॰। पं. नाथूराम प्रेमी इन्हें पंचविंशति के कर्ता पद्मनंदि से अभिन्न मानते हैं। |
| **शुभचन्द्र** | ज्ञानार्णव (योगप्रदीप) | वि. सं. ११ वीं शता॰। इस नाम के कई आचार्य है। |
| **अनन्तकीर्ति** | सर्वज्ञसिद्धि (बृहत् और लघु) | ई. ९वीं शता॰ उत्तरार्ध। कई आचार्य हैं। |
| **मल्लिषेण** | नागकुमारकाव्य, महापुराण, भैरवपद्मावतीकल्प | ई. ११वीं शता॰। कवि और मन्त्रवादी। उभय-भाषाकविचक्रवर्ती थे। अन्य रचनायें— सरस्वतीमन्त्रकल्प, ज्वालिनीकल्प, कामचाण्डालीकल्प। |
| **इन्द्रनन्दि प्रथम** | ज्वालमालिनीकल्प | ई. १० वीं शता॰ पूर्वार्द्ध। मन्त्रशास्त्रज्ञ। इस नाम के कई आचार्य हैं। |
| **जिनचन्द्र** | सिद्धान्तसार | ई. ११-१२ शता॰। सिद्धान्तसार पर ज्ञानभूषण का भाष्य है। |
| **श्रीधर** | गणितसार (त्रिशतिका), ज्योतिर्ज्ञानविधि, बीजगणित | ई. ८-९ शता॰ संभावित है। कई विद्वान् हैं। ज्योतिष और गणित के विद्वान्। अन्य रचना है— जातकतिलक (कन्नड में)। |
| **दुर्गदेव** | रिष्टसमुच्चय, अर्घकाण्ड, मरणकण्डिका, मन्त्रमहोदधि | ई. सन् ११वीं शता॰। श्वेताम्बर और दिगम्बर साहित्य में इस नाम के तीन आचार्यों का उल्लेख है। आगम और तर्कशास्त्र के भी ज्ञाता थे। |
| **मुनि पद्मकीर्ति** | पासणाहचरिउ | शक सं. ९९९। जिनसेन गुरु थे। |
| **इन्द्रनन्दि द्वितीय** | छेदपिण्ड | ई. ११वीं शता॰। कई आचार्य हैं। एक श्रुतावतार के कर्ता इन्द्रनंदि हैं। |

| शास्त्रकार-आचार्य | शास्त्र | समय, परिचयादि |
|---|---|---|
| **वसुनंदि प्रथम** | प्रतिष्ठासारसंग्रह, उपासकाचार (श्रावकाचार), मूलाचार-आचारवृत्ति | ई. ११-१२वीं शता॰। कई आचार्य हैं। आप्तमीमांसावृत्ति और जिनशतक-टीका अन्य वसुनंदि की हैं। उपसकाचार (उपासकाध्ययन) में कई नए तथ्यों का समावेश है। |
| **रामसेन** | तत्त्वानुशासन | ई. सन् ११वीं उत्तरार्ध। सेनगण के आचार्य। कई रामसेन हुए हैं। |
| **गणधरकीर्ति** | अध्यात्मतरंगिणी | वि. सं. ११८९। गुजरातप्रदेशवासी। |
| **भट्टवोसरि** | आयज्ञान (स्वोपज्ञ संस्कृत आयश्री टीका सहित) | ई. ११वीं शता॰ उत्तरार्ध। ज्योतिष और निमित्त शास्त्र के वेत्ता। ये दामनन्दि के शिष्य थे। |
| **उग्रादित्य** | कल्याणकारक | वि. सं. ७४९ के बाद। आयुर्वेदवेत्ता। |
| **भावसेन त्रैविद्य** | प्रमाप्रमेय, सिद्धान्तसार, न्यायदीपिका (धर्मभूषण से भिन्न), विश्वतत्त्व-प्रकाश | ई. १२वीं शता॰ मध्य। मूलसंघ सेनगण। दो अन्य आचार्य थे। अन्य ग्रन्थ-- शाकटायन व्याकरणटीका, कातन्त्ररूपमाला, न्यायसूर्यावलि, भुक्तिमुक्तिविचार, सप्तपदार्थी टीका। |
| **नयसेन** | धर्मामृत, कन्नड-व्याकरण | ई. १२वीं शता॰ पूर्वार्ध। धर्मामृत में कथा के माध्यम से धर्म का महत्त्व है। |
| **वीरनंदि (सिद्धान्तचक्रवर्ती)** | आचारसार | ई. १२वीं शता॰ मध्य। ये मेघचन्द्र- शिष्य थे। मूलसंघ पुस्तकगच्छ और देशीयगण के थे। चन्द्रप्रभचरितकर्ता वीरनंदि (अभयनंदिशिष्य) से ये भिन्न हैं। |
| **श्रुतमुनि** | परमागमसार, आस्रवत्रिभङ्गी, भावत्रिभंगी | ई. १३ शता॰ उत्तरार्ध। डा. ज्योति-भूषण ने सत्रह श्रुतमुनि गिनाए हैं। गोम्मटसार का प्रभाव है। |
| **हस्तिमल्ल** | विक्रान्तकौरव, मैथिलीकल्याण, अञ्जनापवनञ्जय, सुभद्रानाटिका, आदिपुराण, आदि | ई. ११६१-११८१। प्रसिद्ध दिगम्बर जैन संस्कृत नाट्यकार। ये प्रारम्भ में वत्स्यगोत्रीय दक्षिणभारतीय ब्राह्मण थे। अन्य रचनायें भी हैं। ये सेनसंघ के आचार्य रहे हैं। |



| शास्त्रकार-आचार्य | शास्त्र | समय, परिचयादि |
|---|---|---|
| **माघनंदि** | शास्त्रसारसमुच्चय | ई. १२वीं शता. उत्तरार्ध। इस नाम के तेरह आचार्य हैं। |
| **वज्रनन्दि** | नवस्तोत्र | पूज्यपाद से परवर्ती। मल्लिषेण प्रशस्ति में उल्लेख है। |
| **महासेन द्वितीय** | सुलोचना कथा | ई. ८-९ शता.। जिनसेन प्रथम के हरिवंश पुराण में उल्लेख है। |
| **सुमतिदेव** | सुमतिसप्तक | ७-८ शता.। मल्लिषेणप्रशस्ति में उल्लेख है। |
| **पद्मसिंह मुनि** | ज्ञानसार | वि. सं. १०८६। प्राकृत भाषाविज्ञ। |
| **माधवचन्द्र त्रैविध** | त्रिलोकसार संस्कृत टीका | ई. सन् ९७५-१०००। नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती के शिष्य। इस नाम के १०-११ विद्वानों के उल्लेख हैं। |
| **नयनन्दि** | सुदंसणचरिउ, सयलविहि विहाण-कव्व | वि. सं. ११-१२ शताब्दी। |

**(घ) परम्परा-पोषकाचार्य**[1]

| | | |
|---|---|---|
| **बृहद् प्रभाचन्द्र** | तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वामी से भिन्न) | समय अज्ञात। 'अर्हद्-प्रवचन' भी प्रभाचन्द्र के नाम से मिलता है। ये प्रमेयकमलमार्त्तण्डकार से भिन्न हैं। |

---

१. **अन्य परम्परा-पोषकाचार्य—**

**भट्टारक पद्मनंदि** (श्रावकाचार-सारोद्धार, वर्धमानचरित आदि), **भट्टारकसकलकीर्ति** (शान्तिनाथ चरित, समाधिमरणोत्साह-दीपक आदि ३७ ग्रन्थ), **भट्टारक भुवनकीर्ति** (जीवन्धररास आदि), **ब्रह्मजिनदास** (जम्बूस्वामिचरित आदि ६५ ग्रन्थ),**सोमकीर्ति** (प्रद्युम्नचरित आदि ८ ग्रन्थ), **ज्ञानभूषण** (तत्त्वज्ञानतरंगिणी आदि १६ ग्रन्थ), **भट्टारक विजयकीर्ति** (धर्मप्रचारक ), **भट्टारक विद्यानंदि** (सुदर्शन चरित), **भट्टारक मल्लिभूषण** (धर्मप्रचारक), **वीरचन्द्र** (वीरविलासफाग आदि), **सुमतकीर्ति** (कर्मकाण्डटीका, पंचसंग्रह टीका आदि), **भट्टारक जिनचन्द्र** (सिद्धान्तसार, जिनचतुर्विंशतिस्तोत्र), **भट्टारक प्रभाचन्द्र** (ग्रन्थजीर्णोद्धारक), **भट्टारक जिनसेन द्वितीय** (नेमिनाथरास), **ब्रह्मजीवन्धर** (गुणस्थानवेलि आदि १२ ग्रन्थ), **यशःकीर्ति** (पाण्डवपुराण आदि), **शुभकीर्ति** (शान्तिनाथ चरित), **गुणचन्द्र** (अनन्तनाथ पूजा आदि), **मलयकीर्ति**, **श्रुतकीर्ति** (हरिवंशपुराण आदि), **धर्मकीर्ति भट्टारक** (पद्मपुराण, हरिवंश पुराण), **रत्नकीर्ति या**

| *शास्त्रकार-आचार्य* | *शास्त्र* | *समय, परिचयादि* |
|---|---|---|
| **पार्श्वदेव** | संगीत समयसार | १२ वीं शताब्दि अन्तिम चरण। |
| **भास्करनंदि** | तत्त्वार्थसूत्र वृत्ति (सुखबोधाटीका), ध्यानस्तव | वि. सं. १६ वीं शता.। नवीन सिद्धान्तों की स्थापना की है। |
| **ब्रह्मदेव** | बृहद्‌द्रव्यसंग्रहटीका, परमार्थ-प्रकाशटीका | ई. १२वीं शता.। अन्य रचनायें— तत्त्वदीपक, प्रतिष्ठातिलक, ज्ञानदीपक, विवाहपटल, कथाकोष। |
| **रविचन्द्र** | आराधनासार-समुच्चय | ई. १२-१३वीं शता.। इस नाम के अन्य आचार्य भी हैं। |
| **अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती** | कर्मप्रकृति | ई. १३ वीं शता.। मुख्तार साहब इन्हें गोम्मटसार जीवकाण्ड की मन्दप्रबोधिनी टीका का कर्ता भी मानते हैं। |
| **भट्टारक अभिनव धर्मभूषण यति** | न्यायदीपिका | ई. सन् १३५८-१४१८। इस नाम के कई आचार्य हुए हैं। |
| **भट्टारक वर्द्धमान (प्रथम)** | वरांगचरित | ई. सन् १४ वीं शताब्दी। |
| **भट्टारक शुभचन्द्र** | चन्द्रप्रभचरित, पाण्डवपुराण करकण्डुचरित, आदि | वि. सं. १५३५-१६२०। ज्ञान के सागर थे। इनके ३१ ग्रन्थ हैं। संस्कृत और हिन्दी दोनों में रचनायें हैं। |
| **श्रुतसागर सूरि** | यशस्तिलक चन्द्रिका, तत्त्वार्थवृत्ति (श्रुत-सागरीटीका) | वि. सं. १६ वीं शता.। ये न केवल परम्परापोषक थे अपितु मौलिक सिद्धान्तों के संस्थापक भी थे। इनके ३८ ग्रन्थ हैं। |
| **ब्रह्मनेमिदत्त** | आराधनाकथाकोश, नेमिनिर्वाण काव्य | वि. १६ वीं शताब्दी। इनके १२ ग्रन्थ हैं। |

**रत्ननंदि** (भद्रबाहुचरित), **श्रीभूषण** (शान्तिनाथपुराण आदि), **भट्टारक चन्द्रकीर्ति** (पार्श्वनाथपुराण आदि १० ग्रन्थ), **ब्रह्म ज्ञानसागर** (तेरह ग्रन्थ), **सोमसेन** (रामपुराण, शब्दरत्नप्रदीप), **छत्रसेन** (द्रौपदीहरण आदि), **वर्द्धमान द्वितीय** (दशभक्त्यादिमहाशास्त्र), **गंगादास** (श्रुतस्कन्ध कथा आदि), **देवेन्द्रकीर्ति** (दो पूजा ग्रन्थ), **जिनसागर** (आदित्यव्रत कथा आदि), **सुरेन्द्रभूषण** (ऋषिपंचमी कथा), **महेन्द्रसेन** (सीताहरण, बारहमासा), **सुरेन्द्रकीर्ति** (एकीभाव, कल्याणमन्दिर आदि), **ललितकीर्ति भट्टारक** (महापुराण की टीका आदि)।



| *शास्त्रकार-आचार्य* | *शास्त्र* | *समय, परिचयादि* |
|---|---|---|
| **टीकाकार नेमिचन्द्र** | जीवतत्त्वप्रदीपिका (गोम्मटसारटीका) | ई. सन् १६ वीं शता.। महत्त्वपूर्ण टीका है। |
| **मुनि महनंदि** | पाहुडदोहा | वि० सं० १६ वीं शता. उत्तरार्ध। |
| **नरेन्द्रसेन** | प्रमाणप्रमेय-कलिका | ई. सन् १७३०-१७३३। |

**(ङ) अचार्यतुल्य काव्यकार एवं लेखक[1]**

| | | |
|---|---|---|
| **कवि परमेष्ठी (परमेश्वर)** | पुराण (त्रिषष्ठिशलाका) | ९ वीं शताब्दी से पूर्व। |
| **धनञ्जय** | नाममाला (धनञ्जय-निघण्टु), विषापहारस्तोत्र, द्विसन्धानमहाकाव्य | ई. सन् ८वीं शता.। समय-सम्बन्धी मतभेद है। कहा जाता है इनके पुत्र को सर्प ने डस लिया था जिसका विष दूर करने के लिए विषापहार स्तोत्र लिखा। द्विसन्धान में राम और कृष्ण का एक साथ चित्रण है। |

१. **अन्य कवि और लेखक (संस्कृत के)**—

**अजितसेन** (शृङ्गारमंजरी, अलंकार-चिन्तामणि), **विजयवर्णी** (शृङ्गारार्णव-चन्द्रिका), **पद्मनाभ कायस्थ, ज्ञानकीर्ति, धर्मधर, गुणभद्र-द्वितीय, श्रीधरसेन, नागदेव** (मदनपराजय), **पं. वामदेव** (भावसंग्रह आदि), **पं. मेधावी, रामचन्द्र-मुमुक्षु** (पुण्यास्रवकथाकोश), **वादिचन्द्र** (ज्ञानसूर्योदयनाटक आदि), **दोड्डय्य** (भुजबलिचरित), **पद्मसुन्दर** (भविष्यदत्तचरित, रायमल्लाभ्युदय), **पं. जिनदास** (होलिकारेणुचरित), **अरुणमणि** (अजितपुराण), **जगन्नाथ** (श्वेताम्बर-पराजय आदि)।

**(अपभ्रंश के)— चतुर्मुख, स्वयम्भु** (पउमचरिउ आदि), **पुष्पदंत** (महापुराण, णायकुमार-चरिउ आदि), **धनपाल** (भविसयत्तकहा), **धवल** (हरिवंशपुराण), **हरिषेण** (धर्मपरीक्षा), **वीर** (जम्बुस्वामिचरिउ), **श्रीचन्द्र, रइधू** (३७ रचनायें), **तारणस्वामी** (मालारोहण आदि १४ ग्रन्थ)।

**(हिन्दी के)— बनारसीदास** (समयसारनाटक आदि), **भूधरदास** (पार्श्वपुराण, जिनशतक), **द्यानतराय, आचार्यकल्प पं. टोडरमल** (मोक्षमार्गप्रकाशक आदि ११ ग्रन्थ), **तनसुखदास, पं. दौलतराम कासलीवाल, पं. जयचन्द्र छावड़ा, बुधजन, वृन्दावनदास** आदि।

इनके अतिरिक्त **आदिपम्प पोन्न** आदि **कन्नड कवि, तिरुतक्कतेवर** आदि **तमिल कवि, जिनदास** आदि **मराठी** कवि हैं।

| *शास्त्रकार-आचार्य* | *शास्त्र* | *समय, परिचयादि* |
|---|---|---|
| **असग** | वर्द्धमान चरित, शान्तिनाथ चरित | ई. सन् १० वीं शताब्दी। व्याकरण तथा काव्य के ज्ञाता थे। |
| **हरिचन्द्र** | धर्मशर्माभ्युदय, जीवन्धरचम्पू | ई. सन् १० वीं शताब्दी। दोनों काव्य उत्तम कोटि के हैं। |
| **वाग्भट्ट प्रथम** | नेमिनिर्वाणकाव्य | ई. १०७५-११२५। वाग्भट्ट कई हुए हैं। |
| **चामुण्डराय** | चारित्रसार, चामुण्डरायपुराण (त्रिषष्ठी-लक्षण महापुराण) | ई. सन् १० वीं शता.। इन्होंने श्रवणवेलगोला में बाहुबलिस्वामी की मूर्ति की प्रतिष्ठा ई. सन् ९८१ में कराई थी। |
| **अभिनव वाग्भट्ट** | काव्यानुशासन, छन्दोनुशासन, आदि | वि. सं १४ वीं शता.। इनके अन्य ग्रन्थ भी हैं। |
| **आशाधर** | धर्मामृत (सागार और अनगार) | वि. १३ वीं श्ता.। इनकी बीस रचनायें हैं। |
| **अर्हद्दास** | मुनिसुव्रतकाव्य, पुरुदेवचम्पू | वि. १४ वीं शता.। अन्य रचना— भव्यजनकण्ठाभरण |
| **राजमल्ल** | लाटीसंहिता, जम्बूस्वामीचरित, अध्यात्मकमल-मार्त्तण्ड, पंचाध्यायी (अपूर्ण), पिङ्गलशास्त्र | वि. १७वीं शता.। पंचाध्यायी का द्वितीय अध्याय भी अपूर्ण ही है परन्तु जैनसिद्धान्तों के हृदयङ्गम करने के लिए बहुत उपयोगी है। लाटीसंहिता में श्रावकाचार है। ये काष्ठासंघी विद्वान् थे। कई नए सिद्धान्त प्रस्तुत किए हैं। |
| **अभिनव चारुकीर्ति** | प्रमेयरत्नालंकार, | ई. १६वीं शता.। प्रमेयरत्नमाला की प्रमेयरत्नालंकार |
| **पण्डिताचार्य** | गीत-वीतराग | टीका है। |
| **दौलतराम द्वितीय** | छहढाला | वि. सं. १८५५-५६ के मध्य। |

# द्वितीय परिशिष्ट : संकेताक्षर और सहायक ग्रन्थ-सूची

| **संकेताक्षर**[1] | **ग्रन्थ** | **प्रकाशन** |
|---|---|---|
| अन॰ध॰ | **अनगारधर्मामृत** | पं॰ आशाधर, शोलापुर, ई॰ १९२७ |
| — | **अमितगति श्रावकाचार** | दि॰ जैन पुस्तकालय, सूरत, वि॰सं॰ २४८४ |
| — | **अष्टसहस्री** | आ॰ विद्यानन्द, दि॰ जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर, ई॰ १९७२ |
| आ॰अनु॰ | **आत्मानुशासन** | गुणभद्र, सनातन जैन ग्रन्थमाला, ई॰ १९०५ |
| आप्त॰प॰ | **आप्तपरीक्षा** | आ॰ विद्यानन्द, वीरसेवामन्दिर, सरसावा, वि॰सं॰ २००६ |
| आ॰मी॰ | **आप्तमीमांसा (देवागम)** | समन्तभद्राचार्य, वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट, दिल्ली, ई॰१९६७ |
| — | **आस्पेक्ट ऑफ जैनोलाजी** | ग्रन्थाङ्क ३, पा॰वि॰शोध संस्थान, वाराणसी, ई॰ १९९१ |
| — | **इष्टोपदेश** | वीरसेवा मन्दिर, दिल्ली |
| — | **एकीभावस्तोत्र** | ज्ञानपीठपूजाञ्जलि, वाराणसी, १९५७ |
| क॰पा॰ | **कसायपाहुड** | गुणधराचार्य, जयधवलाटीका सहित, दि॰ जैन संघ, मथुरा, वि॰सं॰ २००० |
| का॰आ॰ | **कार्तिकेयानुप्रेक्षा** | राजचन्द्र ग्रन्थमाला, ई॰ १९६० सामायिक दण्डकी टीकासहित |
| — | **क्रियाकलाप** | पन्नालाल सोनी, आगरा, वि॰सं॰ १९९३ |
| — | **क्रियाकोश** | पं॰ दौलतराम |
| क्षपणा | **क्षपणासार** | जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता |
| — | **गुणभद्र श्रावकाचार** | श्रावकाचार संग्रह, भाग १ |
| गो॰ क॰ | **गोम्मटसार कर्मकाण्ड** | नेमिचन्द्राचार्य सिद्धान्तचक्रवर्ती, जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता |
| गो॰कर्म॰ | **गोम्मटसार कर्मकाण्ड** | जैन सि॰प्र॰संस्था, कलकत्ता |
| गो॰ कर्म/ जी॰प्र॰ | **जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका,** | जैन सि॰ प्र॰ संस्था, कलकत्ता |
| गो॰जी॰ | **गोम्मटसार जीवकाण्ड** | जैन सि॰प्र॰ संस्था, कलकत्ता |

१. अन्य संकेताक्षर— उ॰ > उत्तरार्द्ध। गा॰ > गाथा। टि॰ > टिप्पण। पृ. > पृष्ठ।

| | | |
|---|---|---|
| गो॰जी॰/ जी॰प्र॰ | **जीवतत्त्वप्रदीपिका** | जैन सि॰प्र॰ संस्था, कलकत्ता |
| ज्ञा॰ | **ज्ञानार्णव** | शुभचन्द्राचार्य राजचन्द्र ग्रन्थमाला, ई. १९०७ |
| — | **ज्ञानसार** | पद्मसिंह मुनि, भा॰दि॰ जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि॰सं॰ १९७५ |
| — | **चारित्तपाहुड** | माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, वि॰सं॰ १९७७ |
| चा॰सा॰ | **चारित्रसार** | चामुण्डराय, मणिकचन्द ग्रन्थमाला, बम्बई, वि॰सं॰ १९७४ |
| — | **चैत्यभक्ति टीका** | |
| — | **जयधवला (कषायपाहुड टीका)** | दि॰ जैन संघ, मथुरा, वि॰सं॰ २००० |
| — | **जिनसहस्रनाम** | ज्ञानपीठ पूजाञ्जलि, बनारस १९५७ |
| ज॰प॰ | **जंबूदीवपण्णत्तिसंगहो** | जैन संस्कृति संरक्षण संघ, शोलापुर, वि॰सं॰ २०१४ |
| — | **जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश** | भारतीय ज्ञानपीठ, द्वि॰सं॰, सन् १९८७ |
| त॰अनु॰ | **तत्त्वानुशासन** | वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, दिल्ली, ई॰ १९६३ |
| त॰वृ॰ | **तत्त्वार्थवृत्ति** | भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, ई॰ १९४९ |
| त॰सार | **तत्त्वार्थसार** | अमृतचन्द्राचार्य, जैन सि॰प्र॰ संस्था, कलकत्ता, ई॰ १९२९ |
| त॰सू॰ | **तत्त्वार्थसूत्र** | गणेशवर्णी जैन संस्थान, वाराणसी, ई॰ १९९१ |
| ति॰प॰ | **तिलोयपण्णत्ति** | यतिवृषभाचार्य, जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, वि॰सं॰ १९९९ |
| — | **तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा** | अ॰भा॰दि॰ जैन विद्वत् परिषद्, सागर १९७४ |
| त्रि॰सा॰ | **त्रिलोकसार** | नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, जैनसाहित्य, बम्बई, ई॰ १९१८ |
| द॰पा॰ | **दर्शनपाहुड** | मणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, वि॰सं॰ १९७७ |
| द॰सा॰ | **दर्शनसार** | नाथूराम प्रेमी, बम्बई, वि॰सं॰ १९७४ |
| द्र॰सं॰ | **द्रव्यसंग्रह** | देहली, ई॰ १९५३ |
| ध॰ | **धवला (षट्खण्डागम टीका)** | अमरावती, प्रथम संस्करण |
| — | **नयचक्रबृहद्** | श्री देवसेनाचार्य, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, वि॰सं॰ १९७७ |
| नि॰सा॰/ | **नियमसार** | कुन्दकुन्दाचार्य, कुन्दकुन्दभारती, फल्टन १९७० |





| | | |
|---|---|---|
| ता॰वृ॰/क॰ | | (तात्पर्यवृत्तिसहित) कलश |
| — | **न्यायदीपिका** | अभिनवधर्मभूषण, वीरसेवा मन्दिर, देहली, वि॰सं॰ २००२ |
| — | **न्यायदर्शनसूत्र** | महर्षि गौतम |
| पं॰का॰/ ता॰वृ | **पञ्चास्तिकाय** | कुन्दकुन्दाचार्य, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, वि॰सं॰ १९७२ |
| पं॰अ॰ | **पञ्चाध्यायी** | कवि राजमल्ल, देवकीनन्दन, ई॰ १९३२ |
| — | **पद्मनन्दि-पंचविंशतिका** | जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, ई॰ १९२२ |
| पं॰सं॰प्रा॰ | **पंचसंग्रह (प्राकृत)** | भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, ई॰ १९६० |
| प॰पु॰ | **पद्मपुराण** | भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, वि॰सं॰ २०१६ |
| प॰मु॰ | **परीक्षामुख** | स्याद्वाद महाविद्यालय, काशी, प्र॰सं॰ |
| प॰प्र॰ | **परमात्मप्रकाश** | योगेन्दुदेव, राजचन्द्र ग्रन्थमाला (टीकासहित), वि॰सं. २०१७ |
| — | **परवार जैन समाज का इतिहास** | सिद्धान्ताचार्य पं॰ फूलचंद्र शास्त्री, भा॰दि॰ जैन परवार सभा, जबलपुर ई॰ १९९२ |
| पु॰सि॰ | **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय** | अमृतचन्द्राचार्य, नई दिल्ली, ई॰ १९८९ |
| प्र॰सा॰/ | **प्रवचनसार (तात्पर्यवृत्तिसहित)** | कुन्दकुन्दाचार्य, श्रीमहावीरजी, वी॰ नि॰ सं॰ २४९५ |
| बो॰पा॰ | **बोधपाहुड** | माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, वि॰सं॰ १९७७ |
| — | **भक्तामर स्तोत्र** | बृहद् महावीरकर्तन, महावीरजी १९६८ |
| भ॰आ॰ | **भगवती आराधना** | आ॰शिवार्य सखाराम दोशी, शोलापुर, ई॰ १९३५ |
| — | **भगवान् महावीर और उनका तत्त्वदर्शन** | आ॰ देशभूषण। |
| भा॰पा॰ | **भावपाहुड** | माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, वि॰सं॰ १९७७ |
| — | **भावसंग्रह** | देवसेनकृत |
| म॰पु॰ | **महापुराण** | जिनसेनाचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, ई॰ १९५१ |
| मू॰आ॰ | **मूलाचार** | वट्टकेर, अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, वि॰सं॰ १९७६ |
| मू॰आ॰ | **मूलाचार एक समीक्षात्मक** | वसुनंदिकृत आचारवृत्तिसहित, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, ई॰ १९८४ |
| — | **मूलाचार एक अध्ययन** | डॉ॰ फूलचन्द्र प्रेमी, पा॰ वि॰ शोधसंस्थान, बनारस, ई. १९८७ |
| मो॰पा॰ | **मोक्षपाहुड** | माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, वि॰सं॰ १९७७ |

| | | |
|---|---|---|
| — | **युक्त्यनुशासन** | वीरसेवा मन्दिर, सरसावा, ई॰ १९५१ |
| — | **योगसार** | अमितगति, जै॰ सि॰ प्र॰ संस्था, कलकत्ता, ई॰ १९१८ |
| र॰क॰ | **रत्नकरण्डश्रावकाचार** | समन्तभद्राचार्य, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, ई॰ १९८९ |
| र॰सा॰ | **रयणसार** | कुन्दकुन्द, वी॰नि॰ ग्रन्थप्रकाशन समिति, इन्दौर, वी॰नि॰सं॰ २५०० |
| रा॰वा॰ | **राजवार्तिक (तत्त्वार्थवार्तिक)** | अकलंक, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९४४ |
| — | **लघु सिद्धभक्ति** | |
| — | **लब्धिसार,** | जैन सि॰प्र॰ संस्था, कलकत्ता, प्रथम संस्करण |
| — | **लाटीसंहिता** | कवि राजमल्ल, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, वि॰सं॰ १९८४ |
| — | **लिंगपाहुड** | माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, वि॰सं॰ १९७७ |
| वसु॰श्रा॰ | **वसुनन्दि-श्रावकाचार** | भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, वि॰सं॰ २००७ |
| — | **शीलपाहुड** | माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, वि॰सं॰ १९७७ |
| — | **श्लोकवार्तिक (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक)** | आ॰ विद्यानन्द, कुन्थुसागर ग्रन्थमाला, शोलापुर, ई॰ १९४९-१९५६ |
| — | **श्रमण** | पा॰वि॰शो॰ संस्थान, पत्रिका, बनारस |
| — | **श्रुतावतार** | वसुनंदि |
| — | **षट्खण्डागम** | वीरसेनकृत धवलाटीकासहित, पुष्पदंत भूतबलि, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, ई॰ १९७३ |
| — | **सप्तभङ्गीतरङ्गिनी** | परमश्रुत प्रभावक मण्डल, वि॰सं॰ १९७२ |
| — | **समाधिशतक** | वीरसेवा मन्दिर, देहली, सं॰वि॰ २०२१ |
| स॰सा॰ | **समयसार** | कुन्दकुन्दाचार्य, अहिंसा मन्दिर प्रकाशन, देहली, ई॰ १९५८ |
| स॰सा॰ | **सर्वार्थसिद्धि** | आ॰ पूज्यपाद, भारतीय ज्ञानपीठ,बनारस, ई॰ १९५५ |
| स्या॰म॰ | **स्याद्वादमञ्जरी** | मल्लिषेण, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, वि॰सं॰ १९९१ |
| — | **स्वयम्भूस्तोत्र** | वीरसेवा मन्दिर, सरसावा, ई॰ १९५१ |
| — | **सागारधर्मामृत** | पं॰ आशाधर, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९७८ |
| — | **सामायिकपाठ** | अमितगति |
| सू॰पा॰ | **सूत्रपाहुड** | माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई वि॰सं॰ १९७७ |
| — | **हरिवंशपुराण** | जिनसेनाचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, प्र॰स॰। |

# लेखक-परिचय

**नाम** : डॉ. सुदर्शनलाल जैन

**पद** : संस्कृत-विभागाध्यक्ष
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

**जन्मतिथि** : ई. सन् १.४.१९४४

**जन्म-स्थान** : मंजला ग्राम, जिला— सागर (म. प्र.)।

**शैक्षणिक योग्यता** : एम. ए. (संस्कृत), पी- एच. डी., जैनदर्शनाचार्य, प्राकृताचार्य, साहित्याचार्य हिन्दी-साहित्यरत्न।

**शिक्षा-संस्थान** : जैन विद्यालय कटनी, मोराजी सागर, स्याद्वाद महाविद्यालय, पार्श्वनाथ विद्याश्रम तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

**अध्यापन** : (१) संस्कृत विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (१२ अगस्त १९६८ से लगातार)।
(२) वर्धमान कालेज, बिजनौर, यू. पी. (सितम्बर १९६७ से ११ अगस्त १९६८ तक)

**प्रकाशित ग्रन्थादि** : (१) ग्रन्थ लेखन— १. उत्तराध्ययन सूत्र : एक परिशीलन (यू. पी. सरकार से पुरस्कृत, शोधप्रबन्ध), २. तर्कसंग्रह, ३. संस्कृतप्रवेशिका, ४. प्राकृतदीपिका, ५. कर्पूरमञ्जरी।
(२) सम्पादन-सहायक— कसायपाहुड, भाग १६, आचाराङ्गसूत्रः एक परिशीलन तथा तीन अभिनन्दन ग्रन्थ।
(३) पैंतीस से अधिक प्रकाशित लेख।
(४) कई सेमिनारों में निबन्ध वाचन।

**शोध-निर्देशन** : पच्चीस छात्र पी- एच. डी. उपाधि प्राप्त कर चुके हैं तथा वर्तमान में दश छात्र पी- एच. डी. कर रहे हैं।

**पदाधिकारी** : कई संस्थाओं के पदाधिकारी और कार्यकारिणी सदस्य।
मन्त्री— अ.भा.दि. जैन विद्वत् परिषद्,
डायरेक्टर तथा कार्यकारी मन्त्री— श्रीगणेश वर्णी दि. जैन (शोध) संस्थान, वाराणसी।

**अन्य** : (१) सामाजिक, धार्मिक आदि कार्यों में सक्रिय योगदान।
(२) कठिनाइयों से भरे जीवन को धार्मिक-भावना तथा सत्यनिष्ठा रूपी नौका से तैरकर इस मंजिल तक पहुँच।
(३) जैनदर्शन और प्राकृत विद्या के साथ संस्कृत साहित्य और जैनेतर दर्शनों में अविराम गति।
(४) परिवार के सभी सदस्य उच्च शिक्षित।

S.N. SARKAR